सैंटर फॉर डिस्टैंस एंड आनलाईन ऐजुकेशन
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

कक्षा : एम.ए. भाग–2 *सैमेस्टर–3*

पत्र : दूसरा (काव्यशास्त्र) *एकांश संख्या : 1*

माध्यम : हिन्दी

पाठ नं.

1.1 काव्य का स्वरूप

1.2 काव्य के भेद

1.3 अलंकार सम्प्रदाय

1.4 रीति सम्प्रदाय और वक्रोक्ति

Department website : www.pbidde.org

M.A IInd
Sem - III

2022-2023 तथा 2023-2024 सैशन के लिए
(रैगुलर, डिस्टैंस ऐजुकेशन और प्राइवेट विद्यार्थियों के लिए)

प्राईवेट विद्यार्थियों के लिए
पूर्णांक : 100
समय : 3 घण्टे
पास प्रतिशत : 35

रैगुलर,डिस्टैंस ऐजुकेशन विद्यार्थियों के लिए
लिखित परीक्षा : 75 अंक
आंतरिक मूल्यांकन : 25 अंक
पास अंक : लिखित में 26
आंतरिक मूल्यांकन : 9
समय : 3 घण्टे

पेपर दूसरा
भारतीय काव्यशास्त्र (HINM2PUP-T-302)

उद्देश्य :–

1. विद्यार्थियों को काव्य के स्वरूप व काव्य के भेदों से परिचित करवाना।
2. काव्य के विभिन्न संप्रदायों से विद्यार्थियों को अवगत करवाना।
3. विद्यार्थियों को काव्य के प्रयोजन से परिचित करवाना।

अधिगम प्रतिफल :–

1. विद्यार्थी भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों तथा शब्द–शक्तियों से परिचित होंगे।
2. विद्यार्थियों की काव्यशास्त्र में रुचि पैदा होगी।
3. विद्यार्थियों में साहित्य की समझ पैदा होगी।

निर्धारित पाठ्यक्रम

1. काव्य का स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु और काव्यभेद : महाकाव्य, खंडकाव्य, गीति काव्य।

2. शब्द–शक्तियां : अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

3. छह संप्रदाय : अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य। रस निष्पत्ति और साधारणीकरण।

छात्रों और परीक्षकों के लिए आवश्यक निर्देश

1. इस पेपर में प्रश्न दो स्तरों पर पूछे जाएंगे, पहले स्तर पर आठ दीर्घ प्रश्न पूछे जाएंगे जिनमें से चार का उत्तर देना जरूरी होगा। यह प्रश्न परीक्षक पूरे पाठ्यक्रम से इस प्रकार पूछे कि छात्र को पूरे पाठ्यक्रम से उत्तर देना जरूरी हो। दूसरे स्तर पर पूरे पाठ्यक्रम से रैगुलर तथा डिस्टैंस ऐजुकेशन के विद्यार्थियों के लिए सात प्राईवेट विद्यार्थियों के लिए आठ लघु प्रश्न बिना विकल्प के दिए जाएंगे, जिनका बिना विकल्प के चार–पांच पंक्तियों में उत्तर देना अनिवार्य है।

अंक विभाजन

चार दीर्घ प्रश्न – (4×10 =40) **रै॰ तथा डि. ए.**

(4×15 =60) **प्रा॰**

लघु प्रश्न – (7×5 =35) **रै॰ तथा डि. ए.**

(8×5 =40) **प्रा॰**

अध्ययन के लिए सहायक पुस्तक सूची

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत : गणपतिचंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. भारतीय काव्य शास्त्र : डॉ. योगेंद्रप्रताप सिंह – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र : सत्यदेव चौधरी और शान्तिस्वरूप गुप्त।

एम.ए. (हिन्दी) भाग–द्वितीय पत्र : द्वितीय

(सैमेस्टर : III) काव्यशास्त्र

पाठ संख्या : 1.1 लेखक : डॉ. कृष्ण भावुक

काव्य का स्वरूप

रूपरेखा :

1.1.0 उद्देश्य
1.1.1 प्रस्तावना
1.1.2 काव्य प्रयोजन
1.1.3 काव्य लक्षण
1.1.4 काव्य हेतु
1.1.5 काव्य भेद
1.1.6 शब्द–शक्तियां
1.1.6.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.1.7 सारांश
1.1.8 शब्दावली
1.1.9 प्रश्नावली
1.1.10 पुस्तक सूची

1.1.0 उद्देश्य :

प्रिय विद्यार्थियों आपके पत्रा संख्या दो 'काव्यशास्त्रा' के पहले अध्याय में आप काव्य, काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य भेद की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे। इसके साथ शब्द–शक्तियों के अंतर्गत अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द–शक्ति के बारे में भी विस्तृत जानकारी आप को मिल जाएगी।

1.1.1 प्रस्तावना :

भारतीय काव्यशास्त्रा पर्याप्त प्राचीन रहा है। इसका उद्‌गम वेदों से हुआ है, किन्तु साहित्यिक समालोचना का प्रारंभ साहित्य के उद्‌भव के साथ ही माना जा सकता है। यदि काव्यशास्त्रा को परिभाषित करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि वह शास्त्रा है, जो काव्य की उत्कृष्टता, उसमें विद्यमान् गुण–दोषों आदि की विवेचना तथा इसके साथ कवि प्रतिभाजन्य साहित्यिक प्रयोगों की तथ्यपूर्ण समालोचना भी प्रस्तुत करता है।

काव्यशास्त्रा का विषय काव्य के विविध रूपों एवं विधाओं की सैद्धान्तिक विवेचना, व्यवस्था सम्बन्धी निर्देशन एवं मूल्यांकन है। यद्यपि वर्तमान में काव्य शब्द का आशय छन्दोबद्ध रचना तक सीमित हो गया है, तथापि यदि हम उसके अतीत को देखें, तो पाते हैं कि काव्य साहित्य का ही पर्याय है।

1.1.2 काव्य प्रयोजन :

काव्य–प्रयोजन से अभिप्राय है – काव्यरचना के उपरान्त उससे प्राप्त फल, जोकि दो प्रकार के व्यक्तियों को मिलता है। (1) कवि को और (2) सहृदय को, अर्थात् महाकाव्य आदि के पाठक तथा नाटक के प्रेक्षक को।

भरत : नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है।

वामन और भोजराज : कीर्ति और प्रीति।

रुद्रट : उक्त पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अतिरिक्त अनर्थ का उपशम, विपत्ति का निवारण, रोग से विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति।

अग्निपुराणकार : मोक्ष को छोड़कर शेष तीन पुरुषार्थ।

इस प्रकार अब मम्मट के सम्मुख काव्य–प्रयोजनों के उक्त सूची प्रस्तुत थी। जिसे उन्होंने निम्नोक्त रूप में ढाल दिया :

काव्य का प्रयोजन है (1,2) यश और धन की प्राप्ति (3) व्यवहार की ज्ञान (4) शिवेतर (रोग) का नाश (5) तुरन्त परम आनन्द (रसास्वाद) की प्राप्ति और (6) कान्ता–सम्मित उपदेश।

विवेचन :

मम्मट ने उक्त छह, काव्य–प्रयोजनों में से 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् काव्य–पठन अथवा नाटक प्रेक्षण के साथ ही साथ 'तुरन्त परम आनन्द–रसास्वाद' की प्राप्ति को काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन माना है। इसके उपरान्त, स्पष्टतः दूसरा स्थान कान्ता–सम्मित उपदेश को देना चाहिए। काव्य द्वारा प्राप्त उपदेश भी प्रेयसी द्वारा दिये गये उपदेश के समान मधुर एवं सहज–मान्य होता है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन प्रयोजनों में से किन का अधिकारी कवि है और किनका सहृदय है। स्पष्ट है कि यश, धन और रोग–नाश का सीधा सम्बन्ध कवि के साथ है और व्यवहार–ज्ञान तथा कानता–सम्मति उपदेश का सीधा सम्बन्ध सहृदय के साथ किन्तु काव्यों के अध्ययन–अध्यापन द्वारा कोई कवि यश और अर्थ भी प्राप्त कर सकते हैं और स्वनिर्मित ग्रन्थों के द्वारा कोई कवि भी उक्त व्यवहार–ज्ञान अथवा उपदेश ग्रहण करते रहते हैं – अतः सहृदय और कवि भी दो–दो प्रयोजनों के अधिकारी उपचार द्वारा माने जा सकते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है कि रोग–नाश नामक प्रयोजन (जैसे – 'हनुमान बाहुक' की रचना से तुलसीदास को

बाहुपीड़ा रोग से छुटकारा मिल गया) इस वैज्ञानिक युग में मान्य नहीं हो सकता। शेष बचा एक प्रयोजन – रसास्वाद प्राप्ति। मम्मट के टीकाकारों के अनुसार सहृदय ही इसका भोक्ता है। कवि को भी यदि अपने काव्य पठन से रसास्वाद की प्राप्ति होगी तो उसे तत्क्षण के लिए सहृदय ही मानना होगा।

कवि अपने काव्य द्वारा रसास्वाद प्राप्त करता है – इस समस्या के दो पक्ष हैं – (1) क्या कवि काव्य–रचना के समय रसास्वाद प्राप्त करता है? (2) क्या कवि काव्य–रचना के उपरान्त कभी उससे रसास्वाद प्राप्त करता है? इन दोनों प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर है – 'हां'। आइए, अब इस पर विचार करें।

अपनी रचना को पढ़ते समय भी कवि रसास्वाद प्राप्त करता है। यद्यपि रचना में कवि का स्वत्व विद्यमान रहता है, किन्तु तल्लीनता के कारण जब वह अपने स्वतव को भूल जाता है तभी उसे रसास्वाद–प्राप्ति होने लगता है। हां, जिन क्षणों में वह इसे किसी कारणवश नहीं भूल पाता तो वे क्षण उसकी रसास्वाद–प्राप्ति में बाधक होते हैं, यद्यपि वह शृंखला तुरन्त जुड़ जाती है।

उक्त समग्र विवेचन का निष्कर्ष यह है :

1) काव्य–प्रयोजन कहते हैं काव्य द्वारा प्राप्त फल को। काव्य हेतु काव्य–रचना का कारण है–वह पूर्ववर्ती होता है, किन्तु काव्य–प्रयोजन काव्य–रचना के उपरान्त फल की उपलब्धि है।

2) मम्मट–समस्त छह काव्य–प्रयोजनों में से सद्यः पर–निर्वृति सर्वोकृष्ट प्रयोजन है, और इसके उपरान्त कान्ता–सम्मित उपदेश का स्थान है।

3) 'दुःख का नाश' काव्य का यह प्रयोजन इस युग में अमान्य प्रतीत होता है। शेष काव्य–प्रयोजनों का सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनों के साथ साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य–प्रयोजन :

प्लेटो से लेकर आई.ए. रिचर्ड् पर्यन्त अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य–प्रयोजन पर अपने विचार प्रकट किये। विषय के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं – लोकमंगलवादी (उपयोगितावादी), आनन्दवादी और मध्यमार्गी (समन्वयवादी)।

लोकमंगलवादी – इस वर्ग के अन्तर्गत प्लेटो, रस्किन और टालस्टाय का नाम उल्लेखनीय है – प्लेटो ने लोकमंगल को काव्य का चरम प्रयोजन स्वीकार किया तथा इसके अभाव में होमर की उत्कृष्ट काव्यकला की भी भर्त्सना की।

1) रस्किन के अनुसार काव्य का ध्येय है अधिक से अधिक जनसमुदाय की अधिक से अधिक हित–साधना। 2) टालस्टाय के शब्दों में '....यह कला आन्नद नहीं है, वरन् मानव–एकता का साधन है, जो मानव को सह–अनुमति द्वारा परस्पर संवर्धित करती

है।

2) आन्नदवादी –इस वर्ग के विचारक आनन्द को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार कला यद्यपि नैतिकता का विरोध तो नहीं करती, पर वस्तुतः नैतिकता कला के लिए प्रासंगिक नहीं है। अतः परस्पर–असम्बद्ध तत्वों का साक्षेप मूल्यांकन सर्वथा अनुचित है। **लोंजाइनस** से पूर्व कवि का कर्त्तव्य माना जाता था पाठक को शिक्षा देना, उसे आह्लाद प्रदान करना और (सुकर्म के लिए) प्रेरित करना, किन्तु ये इससे सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार काव्य का एक मात्रा लक्ष्य है – पाठक को मात्रा आनन्द प्रदान करना – उसे बस उल्लसित कर देना।

3) मध्यमार्गी – इस प्रकार पाश्चात्य समीक्षा–क्षेत्रा में काव्य के सम्बन्ध में उक्त दोनों धारणाओं की पुष्टि एवं विरोध में तीव्र द्वन्द्व चलता रहा, किन्तु साथ ही साथ, प्रारंभ से ही, अरस्तु के समय से ही, एक वर्ग मध्यमार्गियों का भी रहा। इनका दृष्टिकोण सन्तुलित था।

अरस्तु ने प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा कि कला का विशिष्ट उद्देश्य आनन्द है, पर यह आनन्द नीति–सापेक्ष है – यह अनैतिक नहीं हो सकता। आगे चलकर इस कथन की व्याख्या ड्राईडन ने की। उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन है –मधुर रीति से शिक्षा देना। कालरिज के अनुसार, 'कवि अपने नाटक को नीति का उपदेश देता है पर इस उद्देश्य का प्राथमिक माध्यम है आनन्द। वर्डस्वर्थ के अनुसार काव्य का लक्ष्य है – सत्य और सौन्दर्य के माध्यम से आनन्द प्रदान करना।

इस वर्ग में एक अन्य महत्वपूर्ण नाम है – मैथ्यू आर्नल्ड का। उनके अनुसार नीति के प्रति विरोध जीवन के प्रति विरोध है। उन्होंने उमर खय्याम की इस उक्ति का – कि 'जो समय हमने गिरजाघरों में व्यर्थ गंवाया है, उसकी क्षतिपूर्ति, आओ, हम मदिरालयों में करें– खण्डन किया कि 'जो लोग खय्याम की इस प्रकार की उक्तियों का समर्थन करते हैं, उनके लिए जीवन को समझना आवश्यक है। जीवन भोग–मात्रा नहीं है। उसका अर्थ बड़ा गंभीर है। हम यदि जीवन की गंभीरता को ग्रहण करते हैं तो हमें जीवन के विकासशील मूल्यों को, जिनके द्वारा हम जीवन धारण करते हैं, स्वीकार करना चाहिए।

आई.ए. रिचर्ड्स ने भी 'कला कला के लिए' सिद्धांत को अस्वीकृत करते हुए काव्य के लिए नैतिकता तथा लोकमंगल को आवश्यक माना – काव्य द्वारा आह्लाद–प्राप्ति तो उन्हें मान्य है ही।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रा में आनन्द और लोकमंगल के इस समन्वित रूप को ही अधिकांशतः स्वीकार किया गया। इधर भारत में भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'सद्यः परनिर्वृति' (रसास्वादन) और कान्ता–सम्मित उपदेश का समन्वित रूप ही काव्य

का प्रयोजन माना गया।

1.1.3 काव्य लक्षण :

भामह – इनके अनुसार शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य कहलाता है – शब्दार्थौ सहितों काव्यम्। स्पष्ट है कि इनका यह लक्षण केवल काव्य पर घटित नहीं होता, प्रत्येक प्रकार के सार्थक कथन पर – लोकवार्ता और शास्त्रा–कथन पर भी घटित होता है।

दण्डी– इनके अनुसार इष्ट अर्थ से परिपूर्ण पदावली काव्य का शरीर है। दंडी अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते थे। अतः 'इष्ट अर्थ' से उनका तात्पर्य अलंकार जन्य आह्लाद माना जा सकता है। दण्डी का उक्त स्थान 'काव्य–शरीर' का स्वरूप प्रस्तुत करता है न कि काव्य का।

वामन – वामन की अनेक मान्यताओं के अनुसार, काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं, जो दोष–रहित हो तथा जिसमें गुण नित्य रूप से और अलंकार अनित्य रूप से विद्यमान हो, और इसकी आत्मा है रीति।

कुन्तक – कुन्तक के अनुसार वे सहित (परस्पर–सम्बद्ध) शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं जो कवि के वक्रव्यापार (वकोक्ति–युक्त कथानविशेष) से युक्त तथा सहृदयजनों के आह्लादक बन्ध में रचे गये हैं।

विश्वनाथ – विश्वनाथ प्रस्तुत काव्य लक्षण है – 'वाक्य रसात्मक काव्यम्', अर्थात् ऐसा काव्य जिसकी आत्मा रस है, काव्य कहलाता है। यहां रस से आशय है – रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति। यह सत्य है कि काव्य का बहुभाग इन आठ तत्वों में समाविष्ट हो सकता है फिर भी काव्य का पर्याप्त भाग ऐसा बच रहता है, जो रस की शास्त्रीय परिधि में समाविष्ट नहीं हो पाता। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। इसमें दूसरा दोष यह है कि 'रस' शब्द की रीति, ध्वनि 'वक्रोक्ति' आदि के समान व्याख्या की अपेक्षा रखता है। तीसरा दोष यह है कि रसात्मक 'वाक्य' अर्थात् पद–समूह को काव्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि रसात्मकता की स्थिति 'पद–समूह' में नहीं हो सकती, शब्दार्थ में, अर्थात् वाचक और वाच्य के समन्वित रूप में ही हो सकती है।

प्लेटो के अनुसार भौतिक पदार्थ सत्य की अनुकृति है और काव्य इस अनुकृति की अनुकृति है, अतः यह अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण त्याज्य है। वस्तुतः प्लेटो का उक्त कथन काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं लिखा गया, अपितु कविता को आदर्श राज्य से बहिष्कृत करने के उद्देश्य से लिखा गया है। अतः उक्त धारणा अविचारणीय है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तु के शब्दों में कविता एक कला है। कला प्रकृति का अनुकरण है। महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, आदि सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार हैं। इस

प्रकार संक्षेप में अरस्तु के अनुसार – काव्यकला वाणी के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।

ड्राइडन के अनुसार – काव्य रागात्मक और छन्दोबद्ध भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। स्पष्ट है कि यह कथन अरस्तु–प्रस्तुत परिभाषा पर आधारित है। अन्तर इतना है कि इनमें भाषा के दो विशेषण और जोड़ दिये गये है –रागात्मक और छन्दोबद्ध।

कारलायल द्वारा प्रस्तुत परिभाषा है –काव्य संगीतपूर्ण विचार को कहते है। स्पष्ट है कि इस लक्षण में काव्य के केवल दो तत्वों– बुद्धि तत्त्व और संगीत–तत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

एडगर ऐलेन पो के अनुसार कविता लय के माध्यम से सौन्दर्य की सृष्टि है। इसमें 'लय' शब्द स्पष्ट नहीं है। प्रत्येक कला में लय होती है। संगीत और नृत्य भी लय के माध्यम से सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। 'भाषा' शब्द के प्रयोग के प्रभाव से यह लक्षण अतिव्याप्त भी है।

अब प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड का मन्तव्य अवेक्षणीय है। इनके शब्दों में –काव्य सत्य और काव्य–सौन्दर्य के उपबन्धों के अधीन जीवन की आलोचना का नाम काव्य है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रा के अनुसार समग्रतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं – भाषा के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं।

हिन्दी काव्यशास्त्रा में काव्यलक्षण

हिन्दी के रीतिकालीन अनेक आचार्यों ने काव्यलक्षण प्रस्तुत किये हैं, जिसमें से चिन्तामणि, कुलपति, देव, उल्लेखय हैं किन्तु इनके लक्षणों में कोई नवीनता नहीं है। मम्मट, विश्वनाथ, वाम्भट आदि द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षणों का अनुकरण करते हुए भी ये आचार्य इनका यथावत् एवं व्यवस्थित रूपान्तर प्रस्तुत नहीं कर पाये।

इधर हिन्दी के आधुनिक मनीषियों में से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और डॉ. नगेन्द्र के काव्यलक्षण उल्लेख्य हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी – 'यदि कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में – जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई हैं उसे कविता कहते हैं।

जयशंकर प्रसाद के अनुसार 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प और विज्ञान से नहीं है।

1.1.4 काव्यहेतु :

काव्यहेतु से तात्पर्य है, वह तत्त्व जो काव्य–रचना का कारण है। संसार में हमारे साथ अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ घटित घटनाओं का हमारे मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे हम प्रायः अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इसकी यथावत् एवं साधारण शब्दावली में अभिव्यक्ति 'वार्ता' कहलाती है और कल्पनाश्रित एवं असाधारण शब्दावली में अभिव्यक्ति को 'काव्य' कहते हैं।

दण्डी : (1) नैसर्गिकी प्रतिभा, (2) निर्मल शास्त्राज्ञान (3) अमन्द अभियोग (अभ्यास)।

रुद्रट और कुन्तक (1) शक्ति, (2) व्युत्पत्ति और (3) अभ्यास।

वामन – (1) लोक (लोकव्यवहार–ज्ञान) (2) विद्या (विभिन्न शास्त्राज्ञान) और (3) प्रकीर्ण–प्रकीर्ण के अन्तर्गत (क) लक्ष्यज्ञता अर्थात् काव्यों का अनुशीलन, (ख) अभियोग अर्थात् अभ्यास, (ग) वृद्धसेवा अर्थात् गुरु द्वारा शिक्षा–प्राप्ति, (घ) अवेक्षण अर्थात् उपयुक्त शब्दों का चयन तथा अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण, (ड.) प्रतिभा और (च) अवधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता।

इन आचार्यों के उपरान्त सराग्राही मम्मट ने उक्त सभी काव्य–हेतुओं को निम्नोक्त तीन काव्यहेतुओं में अन्तर्भूत कर दिया –

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्राकाव्याद्यवेक्षात्।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।का.प्र.1.3

अर्थात् (1) शक्ति अर्थात् प्रतिभा (2) लोक, काव्यशास्त्रा, काव्य, आदि के अवेक्षण (निरीक्षण तथा अध्ययन) द्वारा प्राप्त निपुणता तथा (3) काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के द्वारा अभ्यास – इन तीनों का समन्वित रूप काव्य–रचना का हेतु है।

वामन मम्मट और दण्डी ने प्रतिभा को आवश्यक हेतु तो माना है, पर कभी–कभी इसके अभाव में भी शास्त्राज्ञान और अभ्यास के द्वारा काव्य–रचना की स्वीकृति उन्होंने कर ली है। किन्तु आनन्दवर्द्धन के अनुसार यह स्थिति किसी भी रूप में संभव नहीं हैं – शक्ति के बिना यथार्थ काव्य की रचना हो ही नहीं सकती।

मम्मट शक्ति को कवित्व का बीज मानते हुए भी शक्ति, अनुत्पत्ति और अभ्यास, इन तीनों को नहीं, अपितु इनके समन्वित रूप को काव्य का हेतु मानते हैं।

व्युत्पत्ति कहते हैं, उस निपुणता को जो विभिन्न काव्यों तथा शास्त्रों के अध्ययन–अध्यापन अथवा लोक–व्यवहार–ज्ञान द्वारा प्रभूत होती है। व्युत्पत्ति काव्य का हेतु नहीं है, अपितु प्रतिभा का परिष्कारक हेतु है। इससे प्रतिभा के अभाव की पूर्ति भी नहीं हो सकती, अन्यथा सभी काव्यमर्मज्ञ, काव्यशास्त्राज्ञ तथा लोक–व्यवहार पटु व्यक्ति भी काव्य–रचना करने लगते और अशिक्षित एवं ग्रामीण कवियों द्वारा सुन्दर ग्राम्यगीतों की रचना संभव न हो पाती।

शेष रहा अभ्यास का प्रश्न। मंगल नामक आचार्य ने इसे भी काव्य का प्रमुख हेतु माना है। परन्तु यह काव्य का न तो अनिवार्य हेतु है, न प्रमुख हेतु और न आवश्यक हेतु क्योंकि ऐसे भी अनेक कवि संसार में हो चुके हैं, जिनकी प्रथम रचना ही उनकी अमर

कृति है। उदाहरणार्थ, वाल्मीकि का प्रसिद्ध प्रथम श्लोक ही इस तथ्य का प्रमाण है। हां, अभ्यास द्वारा प्रतिभा में परिष्कार अवश्य आ जाता है।

निष्कर्षतः काव्य के मूल प्रेरक तत्त्व को काव्यहेतु कहते हैं। काव्य का अनिवार्य एवं एकमात्रा हेतु है – प्रतिभा, और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के ही परिष्कार, पोषक ए व
संवर्धक हेतु हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रा में काव्यहेतु :

पाश्चात्य काव्यचार्यों, कवियों, दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष अथवा प्रकारान्तर से इस विषय पर प्रकाश डाला है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

प्लेटो – के अनुसार कवि विक्षिप्त प्राणी है और उसका काव्य विक्षिप्त क्षणों की वाणी। प्लेटो का 'विक्षिप्त' शब्द निस्सन्देह निन्दनीय अर्थ का द्योतक है, फिर भी इससे यह स्पष्ट है कि कवि के ये क्षण असामान्य ही होते हैं, जो प्रकारान्तर से उसका काव्य–निर्माण क्षमता, भारतीय शब्दावली में, प्रतिभा की ओर संकेत करते हैं।

अरस्तु – (प्लेटो के शिष्य) के अनुसार कला की मूल प्रेरणा है –अनुकरण की प्रवृत्ति, जो मानव की बाल्यावस्था से ही प्राप्त होती है। यही प्रवृत्ति उसे साहित्य रचना की ओर प्रेरित करती है।

वर्डसवर्थ के अनुसार – काव्य का जन्म शान्ति के क्षणों में स्मरण किये गये प्रबल मनोवेगों से होता है।

अब इस सम्बन्ध में तीन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों फ्रायड, एडलर और युंग के मन्तव्य लीजिए।

फ्रायड कला या काव्य को प्रभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति नहीं मिलती तो वह हमारे अन्तर्मन में जाकर पड़ जाती है, और फिर ऐसी अवस्था में जबकि हमारा चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है।

फ्रायड का शिष्य एडलर मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार 'समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है। जो हमें जीवन में अप्राप्त है, उसी को हम कल्पना में खोजते हैं।

उक्त दोनों सिद्धान्तों को अंशतः सत्य मानते हुए युंग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना।

इस प्रकार पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से कुछ काव्य–हेतु तो वही स्वीकृत हुए जो भारतीय काव्याचार्यों ने माने थे – प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, तथा कुछ नूतन भी हैं, जैसे अनुकरण, सौन्दर्य–प्रेम, प्रबल मनोवेगों का सहज

उच्छलन, अभिव्यक्ति, अभुक्त काम की प्रेरणा, हीनता की भावना और जीवनेच्छा।

1.1.5 काव्य भेद :

भारतीय दृष्टि से काव्य–विभाजन –

सभी भारतीय काव्याचार्यों ने काव्य–भेद पर किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला है। इनमें से इनके नाम उल्लेख हैं – भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, अग्निपुराणकार, रामचन्द्र और विश्वनाथ। इसके अनुसार प्रमुख काव्य–विभाजन इस प्रकार है।

क) भाषा के आधार पर काव्य के प्रमुख तीन भेद – संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

ख) व्यंग्य के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद – ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्रा।

ग) काव्य–रूप (काव्य के बाह्य प्रकार अथवा इन्द्रिय–गम्यता के आधार पर काव्य के दो भेद – दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य।

– **दृश्य काव्य** उसे कहते हैं, जिसका अभिनय किया जा सके, दूसरे शब्दों में जिसे अभिनीत रूप में देखकर सहृदय उसका आनन्द प्राप्त कर सके। दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं।

– **श्रव्य काव्य** उसे कहते हैं जिसका अभिनय न हो सकें, दूसरे शब्दों में, जिसे पढ़कर अथवा सुनकर सहृदय उसका आनन्द प्राप्त कर सकें।

– **रूपक के दस भेद :** नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन।

इनमें से नाटक प्रमुख है।

– **दृश्य काव्य** का एक अन्य रूप भी स्वीकार किया गया है – उपरूपक।

उपरूपक के अठारह भेद : नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सदटक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेड्.खण, रासक, संलापक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका।

– **श्रव्य काव्य के तीन भेद :** पद्य (छन्दोबद्ध), गद्य (छन्दोरहित) और चम्पू (गद्य–पद्यमय काव्य)।

– पद्य काव्य के दस भेद :

मुक्तक – दूसरे पद्य से निरपेक्ष पद्य।

युग्मक – दो पद्यों में वाक्यपूर्ति।

सन्दानितक अथवा विशेषक – तीन पद्यों में वाक्यपूर्ति।

कलापक – चार पद्यों में वाक्यपूर्ति।

कुलक – पांच अथवा इससे अधिक पद्यों में वाक्यपूर्ति।

महाकाव्य – सर्गबद्ध।

काव्य – एक कथा का निरूपक।

खण्डकाव्य – काव्य (एक कथा) के एक अंश का निरूपक।

कोष – परस्पर निरपेक्ष पद्य–समूह।

व्रज्या – वर्णमाला के क्रम से व्यवस्थित कोष–काव्य।

– गद्यकाव्य के चार भेद (रचना के आधार पर)।

मुक्तक – समासरहित गद्य

वृत्त–गन्धि – पद्यांशों से युक्त गद्य

उत्कलिका प्राय – दीर्घ–समास–युक्त गद्य

चूर्णक – लघु–समास–युक्त–गद्य

– गद्य काव्य के चार भेद (कथा वस्तु के आधार पर) :

(1) कथा – जैसे कादम्बरी (2) आख्यायिका – जैसे हर्षचरित। इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता।

– चम्पू के दो भेद – विरुद और करम्भक।

पाश्चात्य दृष्टि से काव्य–विभाजन

काव्य के दो भेद – विषयीगत (Subjective) और विषयगत (Objective)

– विषयीगत काव्य के छह भेद – (1) दार्शनिक और विचारात्मक गीति (Meditative and Philosophical), (2) सम्बोधन गीति (Ode), (3) दुःखात्मक गीत (Elegy), (4) पत्रागीत (Epistle), (5) व्यंग्यगीत (Satire), (6) वर्णनात्मक गीत (Descriptive Poetry)

– विषयगत काव्य के दो भेद – वर्णनात्मक कविता (Narrative Poetry), अभिनयात्मक कविता (Dramatic Poetry)।

– वर्णनात्मक कविता के तीन भेद – वीर गीत (Ballads), महाकाव्य (Epic), छन्दोबद्ध रोमांचकारी कथाएं (Metrical Romance)

1.1.6 शब्द शक्तियां :

वाक्य

वाक्य में प्रयुक्त पद सार्थक शब्द होते हैं। शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण

को शब्दशक्ति कहते हैं। संक्षेप में इसे शक्ति भी कहते हैं।

भेद – इनके तीन भेद हैं – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ आचार्य शब्द–शक्ति का एक अन्य भेद भी मानते हैं – तात्पर्य वृत्ति।

उक्त तीन शक्तियों के अनुसार तीन शब्द माने गये हैं – वाचक, लक्षक और व्यंजक और अर्थ भी तीन माने गये हैं – वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।

1) अभिधा

लक्षण – प्रसिद्ध अर्थ अथवा साक्षात् संकेतिक अर्थ के बोधक व्यापार (के मूल कारण) को अभिधा शब्दशक्ति कहते हैं।

वाचक शब्द – जो मुख्य अर्थ अथवा साक्षात् अर्थ का बोध कराता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं, और स्पष्ट शब्दों में कहें तो जिस शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात होता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं।

वाच्यार्थ – किसी (वाचक) शब्द का अभिधा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। वाच्यार्थ से तात्पर्य है किसी शब्द का निश्चित अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ।

अभिधा शब्दशक्ति का क्षेत्रा – अभिधा शब्दशक्ति मुख्यार्थ तक सीमित है, चाहे कोई वाचक शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक।

2) लक्षणा

लक्षणा – मुख्यार्थ की बाधा होने पर, रूढि अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।

लक्षक शब्द – जो शब्द लक्षणा शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ का द्योतन करता है, उसे लक्षक अथवा 'लाक्षणिक' शब्द कहते हैं।

लक्ष्यार्थ – लक्षणा शक्ति द्वारा गृहीत अर्थ 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है।

लक्षणा–शक्ति के भेदोपभेद – लक्षणा–शक्ति के दो प्रमुख भेद हैं – प्रयोजनवती और रूढ़ा।

क) प्रयोजनवती लक्षणा

– जहां मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए, वहां प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है।

इसका प्रसिद्ध उदाहरण है : 'गंगा में आश्रम है।' यहां गंगा शब्द का वाच्यार्थ है गंगा नदी, लक्ष्यार्थ है गंगा तट। वक्ता का प्रयोजन है – आश्रम की शीतलता और

पवित्राता द्योतित करना।

ख) रूढ़ा लक्षणा

जहां मुख्यार्थ रूढ़ि के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहां रूढ़ा लक्षणा मानी जाती है। रूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत सभी भाषाओं के मुहावरे एवं लोकोक्तियां आ जाती हैं। जैसे दांत खट्टे करना (परास्त करना), आंखें दिखाना (क्रोध करना) इत्यादि। इसी प्रकार निम्नोक्ति पद्य रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण माना जाता है –

कवि अनूठे कलाम के बल से,
हैं बड़ा ही कमाल कर देते।
बेंधने के लिए कलेजे को,
हैं कलेजा निकाल धर देते।

3) व्यंजना

लक्षण – अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना–अपना अर्थ ज्ञात कराके शान्त हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीती होती है उसे व्यंजना शब्दशक्ति कहते हैं।

व्यंजक शब्द – जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजक शब्द कहते हैं।

व्यंग्यार्थ – व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ का होता है। इसी को प्रतीतार्थ, प्रतीयमानार्थ, ध्वन्यर्थ, ध्वनि आदि भी कहते हैं।

व्यंजना शक्ति के भेदोपभेद – इसके दो प्रमुख भेद हैं – शाब्दी और आर्थी।

शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की। किन्तु इन भेदों का अभिप्राय यह नहीं है कि शाब्दी व्यंजना में केवल शब्द ही, और आर्थी व्यंजना में केवल अर्थ ही, व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में व्यंजक होते हैं, अपितु दोनों अवस्थाओं में शब्द और व्यंजक होकर एक–दूसरे के सहायक बनते हैं। हां, शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता।

तात्पर्य वृत्ति

लक्षण – अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के उपरान्त जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञान होता है उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।

1.1.6.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. शब्द शक्तियों से आपका क्या भाव है।

.....

.....

.....

2. काव्य प्रयोजन से क्या अभिप्राय है।

.....

.....

.....

1.1.7 सारांश –

अंत में हम कह सकते हैं कि काव्य प्रयोजन से अभिप्राय है – काव्य रचना के बाद उससे प्राप्त फल, दो कि कवि और पाठक को ही मिलता है। काव्य प्रयोजन संबंधी विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कोई काव्य को धर्म, यश, आयु का साधक, बुद्धि वर्धक मानता है तो कोई कीर्ति और यश को। इस प्रकार काव्य शास्त्रा में आनन्द और लोकमंगल के इस समन्वित रूप को ही अधिकांशतः स्वीकार किया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्रा में काव्य–लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारंभ में मिलता है, किन्तु आदर्श लक्षण प्रस्तुत नहीं हो सका। भामह के अनुसार शब्द और अर्थ का सहित–भाव काव्य कहलाता है। इनका यह लक्षण केवल काव्य पर घटित नहीं होता। दण्डी ने इष्ट अर्थ से परिपूर्ण पदावली को काव्य का शरीर कहा है।

काव्य–हेतु के अंतर्गत आता है–वह तत्त्व जो काव्य रचना का कारण होता है। रूद्रट और कुन्तक ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु माना है। किन्तु कोई भी तत्त्व अकेला किसी काव्य रचना का कारण नहीं बन सकता। इसके समन्वित रूप से ही यह संभव है।

जिस साधन या शक्ति के द्वारा शब्द में निहित अर्थ का बोध होता है, उसे ही शब्द–शक्ति कहते हैं। शब्द शक्ति का प्रमुख प्रयोजन अर्थ का बोध कराना है। अर्थ कहीं तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है क्योंकि वह अर्थ सामान्यतः वही होता है, जो दैनिक लोकव्यवहार में रूढ़ होता है। वह वाच्यार्थ कहलाता है। अर्थ कहीं अस्पष्ट होता है किन्तु समीक्षदि–सम्बन्ध–विशेष के आधार पर उसका व्यावहारिक तात्पर्य समझ लिया जाता है, क्योंकि वहां शब्द उस अर्थ का वाचक न होते हुए भी उस अर्थ को लक्षित करता है। इसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। अर्थ कहीं इतना अस्पष्ट होता है कि उसमें छिपे हुए वक्ता के अभिप्राय को कोई विज्ञ ही समझ पाता है। इसे व्यंगार्थ कहते हैं। ये तीनों अर्थ तीन प्रकार की शब्द–शक्तियां के माध्यम से व्यक्त होते हैं।

1.1.8 शब्दार्थः

कीर्ति	–	यश
शितेवर	–	रोग
लक्ष्य	–	उद्देश्य

आह्लाद – खुशी

अभीष्ट – आवश्यक

सहित–भाव – समन्वय

किंचित – ज़रा

विक्षिप्त – निन्दनीय

1.1.9 प्रश्नावली :

1) काव्य–प्रयोजन से क्या अभिप्राय है? किसी एक विद्वान् की परिभाषा भी दें।
2) काव्य–लक्षण विषय पर टिप्पणी करें।
3) काव्य–हेतु से क्या तात्पर्य है? उत्तर पांच–छह पंक्तियां में दें।
4) भारतीय दृष्टि से काव्य भेद बताएं।
5) शब्द–शक्ति किसे कहते हैं?
6) अभिधा शब्द शक्ति पर टिप्पणी करें।
7) लक्षणा शब्द शक्ति पर प्रकाश डालें।
8) व्यंजना शब्द शक्ति किसे कहते हैं?

1.1.10 पुस्तक सूची :

1) हिन्दी काव्यशास्त्रा –डॉ. रामदेव साहू
2) भारतीय काव्यशास्त्रा–डॉ. नगेन्द्र व डॉ. तारकनाथ बाली
3) रीतिकाव्य की भूमिका–डॉ. नगेन्द्र
4) काव्य के रूप – बाबू गुलाब राय
5) भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रा–डॉ. बच्चन सिंह

Updated on May 2023

पाठ संख्या– 1.2

डॉ0 कुलदीप कौर

काव्य के भेद

रूपरेखा

1.2.0 उद्देश्य
1.2.1 भूमिका
1.2.2 काव्य के भेद
1.2.2.1 महाकाव्य
1.2.2.2 खण्डकाव्य
1.2.2.3 गीतिकाव्य
1.2.2.4 स्वयं जांच अभ्यास
1.2.3 सारांश
1.2.4 महत्वपूर्ण प्रश्न
1.2.5 सहायक ग्रंथ सूची

1.2.0 उद्देश्य :

इस पाठ में आप काव्य के मुख्य भेद महाकाव्य, खण्डकाव्य और गीतिकाव्य की परिभाषा और स्वरूप के साथ–साथ विशेषताओं से भी परिचित हो पाएंगे।

1.2.1 भूमिका :

संस्कृताचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं – श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका अभिनय किया जा सके, और सहृदय दर्शक उससे आनन्द प्राप्त कर सके। दृश्य काव्य को ही रूपक भी कहते हैं। नाटक इसकी प्रमुख विधा है। श्रत्व्य काव्य में सहृदय काव्य को पढ़कर या सुनकर आनन्दित होता है। इसके तीन भेद हैं – पद्य (छन्दोबद्ध), गद्य (छन्दोरहित) और चम्पू (गद्य–पद्यमय काव्य)। हम यहां पद्य के भेद – महाकाव्य, खण्डकाव्य और गीतिकाव्य के स्वरूप पर विचार करेंगे।

1.2.2 काव्य के भेद

1.2.2.1 महाकाव्य :

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है महान् काव्य। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग बालमीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में मिलता है। जिसमें इसके आकार, रचयिता और नायक की महानता की चर्चा मिलती है।

संस्कृताचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में महाकाव्य को सर्गबद्ध रचना माना है। उनके अनुसार महाकाव्य का विषय महान् होना चाहिए। भामह के शब्दों में "लम्बी कथा वाला, महान् चरित्रों पर आधारित, नाटकीय पंचसंधियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली में रचित तथा जीवन के विविध स्वरूपों और कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध काव्य ही महाकाव्य होता है।" उसमें दरबारी वातावरण, दूतों का प्रयोग, युद्ध वर्णन, और अन्त में नायक की विजय और उत्कर्ष का वर्णन आवश्यक है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के निरूपण के साथ–साथ उसमें सभी रसों का पृथक–पृथक वर्णन किया जाता है। महाकाव्य में कथानक की लम्बी चौड़ी व्याख्याओं की उपेक्षा करते हुए उसके सूक्ष्म सौन्दर्य को बनाए रखना अति आवश्यक है। सौन्दर्य रक्षा के लिए अलंकारों का सही प्रयोग, ग्रामीण शब्दों का परिहार, नाटकीय संधियों का सुविचारित प्रयोग समूचे वर्णनों में जीवन के स्वाभाविक रूपों के अनुरूप स्वाभाविकता रहनी चाहिए, नायक को प्रतिभा और विद्वता के आधार पर विजयी दिखाना आदि अति आवश्यक है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, नमस्क्रिया और वस्तु निर्देश, विभिन्न सर्गों में विभिन्न छन्दों का प्रयोग आदि नवीन तत्वों के साथ ही 'महान नायक' के स्थान पर 'चतुरोदात्त नायक' की स्थापना कर महाकाव्य के उद्देश्य के महत्त्व को कम कर दिया। चमत्कार और केवल रसानुभूति को प्रधान माना। जिसके परिणाम स्वरूप महाकाव्य की महानता और उदात्तता, अलंकृति के आवरण में धूमिल हो गई। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में भामह के विचारों को आगे बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा है, "जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय – जिसमें धीरोदात्तगुण हों– नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। श्रृंगार, वीर और शान्त में से एक रस अंगी होता है अन्य रस गौण होते हैं। सभी नाटक संधियां होती हैं। कथानक लोक प्रसिद्ध या ऐतिहासिक, चतुवर्गफल में से किसी एक की प्राप्ति, आरम्भ में आशीर्वाद, खल की निन्दा और सज्जनों का वर्णन, सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना आदि का नियम होता है। अंततः हम कह सकते हैं कि सभी भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के लिए महान कथानक, धीरोदात्त नायक और जीवन की विविधता को कलात्मक सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करना आवश्यक माना है।

पाश्चात्य मत

पाश्चात्य चिंतकों में सर्वप्रथम अरस्तु का नाम आता है। इन्होंने अपने समीक्षा ग्रंथ 'पोईटिकस'(काव्यशास्त्र) में महाकाव्य सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये हैं। होमर के 'ईलियड' और 'ओडेसी' को आदर्श मानकर महाकाव्य के विषय में अपना अभिमत व्यक्त करते हैं कि "महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारों का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः गम्भीर और पूर्ण हों, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यान्त एक छंद हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अंत हो, जिसके आदि और अंत हों, जिसके आदि और अंत एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।" अरस्तु के पश्चात् महाकाव्य का अध्ययन न के बराबर ही हुआ परन्तु 16वीं शताब्दी में विद्वानों की रुचि दुबारा होमर, प्लेटो और अरस्तु की ओर बढ़ी। 'Epic' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ और महान काव्य का प्रतीक बन गया। आधुनिक आलोचकों में बावरा, एबरक्राम्बी, केर डिक्सन ने महाकाव्य पर विचार किया। सी.एम.बावरा के अनुसार महाकाव्य का बृहद् आकार होता है, गरिमामयी घटनाएं होती हैं। चरित्रों की क्रियाशील जीवन कथा होती है जिसे पढ़ने के बाद हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। एबराक्राम्बी ने महाकाव्य के आकार की अपेक्षा उसकी शैली को महत्त्व दिया क्योंकि शैली कवि की कल्पना, विचारधारा और उसकी अभिव्यक्ति से सम्बंधित होती है। जो पाठक को ऐसे लोक में पहुंचा देती है जहां कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नहीं होता।

आधुनिक मत

आधुनिक हिन्दी आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए महाकाव्य के केवल चार तत्त्वों को ही महत्त्व दिया – इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, भाव व्यंजना तथा संवाद। उनके अनुसार महाकाव्य का इतिवृत्त (कथानक) व्यापक होने के साथ–साथ सुसंगठित होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण होना चाहिए, जो हमें आन्दोलित करने में समर्थ हों। संवादों में रोचकता, नाटकीयता और औचित्य का गुण होना अनिवार्य है। शुक्ल जी ने संदेश की महानता और शैली की प्रौढ़ता को भी महाकाव्य का प्रमुख लक्षण माना है। डॉ. नगेन्द्र ने महाकाव्य के पांच लक्षण निर्धारित किए हैं – उदात्त कथानक, उदात्त कार्य, उदात्त भाव, उदात्त चरित्र और उदात्त शैली। अतः महाकाव्य की सबसे बड़ी सफलता इसमें होती है कि वह जन समाज का दिशा निर्देशन करते हुए उसमें साहस, शक्ति, उमंग और जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर सके। ऐसे महाकाव्यों में संस्कृत भाषा में रचित 'बाल्मीकि रामायण'। इसके बाद कालिदास के कुमारसंम्भव और रघुवंश, स्वयंभू के पउमचरिउ, और चन्दवरदाई के पृथ्वीराजा रासो, पदमावत (जामसी), रामचरितमानस (तुलसी), रामचन्द्रिका

(केशव), साकेत (गुप्त) कामायनी (प्रसाद), उर्वशी (दिनकर), लोकयतन (पंत) आदि महाकाव्यों की गणना की जा सकती है जो विषय की महानता, उदात्तता, सहजता, रोचकता, मौलिकता और शैलीगत सौन्दर्य के कारण आज भी मानव जीवन को दिशा निर्देश देने में सक्षम हैं।

1.2.2.2 खण्डकाव्य :

खण्डकाव्य प्रबन्ध काव्य का एक भेद है। जिसमें जीवन के किसी एक पद्य या घटना का चित्रण होता है। महाकाव्य की भांति इसमें जीवन का समग्र चित्रण नहीं होता। प्रबन्ध काव्य का भेद होने के कारण इसमें एक कथा होती है, उसमें तारतम्यता होती है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा इसका क्षेत्र सीमित रहता है। संस्कृताचार्यों ने खण्डकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य पर अत्यधिक विचार किया। इसलिए संस्कृत में खण्डकाव्य संबंधी विवेचन बहुत कम मिलता है। विश्वनाथ ने 'काव्यदर्पण' में महाकाव्य के एक देश या अंश या अनुसरण करने वाले काव्य को खण्डकाव्य कहा है। आचार्य रूद्रट ने इसे 'लघुकाव्य' कहा है क्योंकि इसमें एक तो जीवन के किसी एक खंड का ही वर्णन रहता है, दूसरा चतुर्वर्ग फल में से किसी एक की प्राप्ति, किसी एक रस की ही उत्पत्ति होती है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'खण्डकाव्य एक ऐसा पद्यबद्ध कथा काव्य है, जिसके कथानक में किसी प्रकार एकात्मक अन्विति हो कि उसमें अप्रासंगिक कथाएं सामान्यतया अन्र्भुक्त न हो सकें, कथा में एकांगिता, एकदेशीयता हो तथा कथा विन्यास में क्रम–आरम्भ, विकास, चरमसीमा और निश्चित उद्देश्य में परिणति हो।' कथा की एकांगिता के कारण इसका आकार सीमित रहता है, प्रासंगिक कथाओं के अभाव के कारण कथा कहानी की तरह तीव्र गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। इसमें महाकाव्य की भांति सर्गों का होना अनिवार्य नहीं है।

हिन्दी और संस्कृत में कुछ ऐसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं जिसमें कथा का तंतु अत्यंत क्षीण होता है। उसमें कवि की अनुभूति ही प्रधान रहती है, न कि कथा। कालिदास का 'मेघदूत' कथा काव्य न होकर 'गीतिकाव्य' ही अधिक है। हिन्दी में नंदराज का भँवरगीत, रत्नाकर का 'उद्धवशतक', निराला का तुलसीदास आदि भी इसी प्रकार के खण्डकाव्य हैं, जिनमें कथा का अत्यन्त क्षीण तन्तु होते हुए भी उसमें कथा का एक सुसम्बद्ध रूप मिल जाता है।

आधुनिक हिन्दी कवियों ने रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्ध साहित्य आदि में से ही कथानकों को लिया गया है। जैसे गुप्त के 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'कुणालगीत' और 'नहुष', रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न', जगन्नाथ रत्नाकर का 'गंगावतरण', छायावादी कवियों में प्रसाद का 'प्रेम पथिक' पंत का 'ग्रंथि', निराला का 'तुलसीदास' आदि।

1.2.2.3 गीतिकाव्य :

जिस काव्य में कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों को भावनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त किया जाता है उसे गीतिकाव्य कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'लिरिक' (Lyric) कहा जाता है। 'लिरिक' की उत्पत्ति 'लायर' (Lyre) नामक वाद्ययंत्र से हुई। इसके सहरे जिन गीतों का गान होता था, उन्हें 'लिरिक' कहा जाने लगा किन्तु हमारे यहां 'गीति' शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने गीतिकाव्य को परिभाषा में बांधने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि उसमें किसी एक विचार, भाव या स्थिति का चित्रण होता है। यह कविता चाहे गाई जाय या न गाई जाय, किन्तु साधारणतया इसका निर्माण पदों में होता है। गीतिकाव्य में भावातिरेक और निजीपन अधिक रहता है इसलिए कवि हृदय का आत्मनिवेदन इस का मूल तत्त्व है। हीगेल के अनुसार, "गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता, जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्‌घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप विशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है। उसका एक मात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी आशाओं उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना की चीत्कारों को उद्‌घाटन करना ही है।" अर्थात् गीतिकाव्य में स्वतः स्फूर्ति की मात्रा अधिक होती है जो संगीत के माध्यम प्रस्फुटित होती है। संगीत गीतिकाव्य का शरीर होता है और भावातिरेक उसकी आत्मा होती है। हडसन ने गीतिकाव्य में वैयक्तिक काव्य के व्यापक स्वरूप को महत्व दिया उनके मतानुसार, "वैयक्तिकता की छाप गीति काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह व्यक्ति–वैचित्रय में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं और अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।" हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने भाव को गीतिकाव्य की आत्मा माना है। उनके शब्दों में, गीतिकाव्य की आत्मा है – भाव जो किसी प्रेरणा के भाव से जुड़कर एक साथ गीति में फूट निकलता हो। स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्त्व विधमान रहता है। उसमें एक प्रकार की सूक्ष्मता तथा सुसंगठित एकता होती है जो समस्त कविता को अन्वित किए रहती है। वह एक क्षणिक और तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है। आचार्य गुलाबराय ने निजीपन के साथ रागात्मकता, भाव एकता एवं संक्षिप्तता के साथ संगीत को गीतिकाव्य के लिए आवश्यक माना है। जयशंकर प्रसाद ने सूक्ष्म भावों का वंदनामयी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति को गीतिकाव्य कहा है। महादेवी वर्मा के अनुसार, "गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख–दुखात्मक अनुभूति का शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" डॉ. दशरथ ओझा के मतानुसार, "जिस काव्य में एक तथ्य या एक भाव के साथ–साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो – वह गीति काव्य है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि गीतिकाव्य हृदय के उस गम्भीर भावावेश का परिणाम है जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में स्वतः प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार गीतिकाव्य में भावनात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, कोमलता, संक्षिप्तता और मुक्तक शैली का होना अनिवार्य है।

गीतिकाव्य का वर्गीकरण

पाश्चात्य आलोचकों ने गीतिकाव्य को सॉनेट, ओड, एलिजी, सांग इपिसिल, ईडिल आदि कई वर्गों में विभक्त किया है। आधुनिक हिन्दी आलोचकों ने भी गीतिकाव्य को कई वर्गों में विभाजित किया। जैसे–प्रेमगीत, व्यंग्य गीत, धार्मिक गीत, शोकगीत, युद्धगीत, वीर गीत, नृत्य गीत, सामाजिक गीत, उपालम्भ गीत, गीति नाट्य, सम्बोधन गीत और सॉनेट। मूलतः गीतिकाव्य के दो भेद किए जाते हैं – लोकगीत और साहित्यिक गीत। लोकगीतों में लोकरंजन का समावेश अधिक है क्योंकि जनमानस को आनन्दित करना उसका उद्देश्य होता है। लोक भावना का गान ही इसका मुख्य विषय है। वैयक्तिकता के अभाव के कारण पाठक या श्रोता इसमें मुग्ध हो जाते हैं। हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास में छः प्रकार के लोकगीत बताए गए हैं। संस्कार, ऋतु, व्रत, जाति, श्रम, विविध। साहित्यिक गीतों में कवि के निजीपन का अस्तित्व विद्यमान रहता है। कोमल भावों के प्रवाह को लयों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। साहित्यिक गीतों में काव्य तत्वों का अधिक मुखर होना स्वाभाविक है। बाबू गुलाब राय के विचार इस संदर्भ में अवलोकनीय हैं, "साहित्यिक गीत कई प्रकार के होते हैं, इनमें हम दो मुख्य भेद देखते हैं। कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं जैसे कबीर तथा मीरा के गीत अथवा तुलसी के विनय पत्रिका के पद, कुछ कथाश्रित होते हैं, जैसे सूर के लीला सम्बन्धी पद। उनमें भी कवि आत्म निवेदन करता है किन्तु किसी दूसरे पात्र द्वारा। शुद्ध संवेदनात्मक गीतों में कवि स्वयं ही अपना निवेदन करता है। उसके निवेदन में और लोग भी भाग लें तो दूसरी बात।

हिन्दी गीतिकाव्य परम्परा में विद्यापति को सर्वप्रथम कवि माना जाता है विद्यापति ने 'पदावली' के पदों की रचना लोक भाषा में की। विद्यापति की यह विशेषता है कि अपने काव्य में किसी एक परिस्थिति को लेकर उससे सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण इस प्रकार करते हैं कि वह विशुद्ध भावावेग का रूप धारण कर लेता है। इनके बाद सूरदास, तुलसीदास, कबीर, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा आदि ने गीतिकाव्य की रचना की।

1.2.2.4 स्वयं जांच अभ्यास

1. खंडकाव्य किसे कहते हैं?

.....

.....

.....

1.2.3 सारांश :

भारतीय आचार्यों ने काव्य के भेदों को विभाजित करते हुए महाकाव्य, खंडकाव्य और गीतिकाव्य में विभाजित किया गया है। महाकाव्य दीर्घ सर्गबद्ध रचना होती है और खंडकाव्य में सर्गों की संख्या महाकाव्य से कम होती है। गीतिकाव्य लय पर आधारित होता हैं।

1.2.4 महत्त्वपूर्ण प्रश्न :

1. काव्य के भेदों का परिचय दीजिए।
2. गीतिकाव्य की परिभाषा बताते हुए इसके स्वरूप को स्पष्ट करें।
3. महाकाव्य काव्य किसे कहते हैं। – उत्तर दीजिए।
4. महाकाव्य और खण्डकाव्य की परिभाषा बताते हुए दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करें।
5. गीतिकाव्य में वैयक्तिकता की प्रधानता होती है – समीक्षा कीजिए।

1.2.4 सहायक ग्रंथ सूची :

1. काव्य के रूप – बाबू गुलाब राय
2. हिन्दी साहित्य कोश – धीरेन्द्र वर्मा (सम्पा.)
3. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र : गणपति चन्द्र गुप्त

पाठ संख्या : **1.3** लेखिका : डॉ. कृष्ण भावुक

अलंकार सम्प्रदाय

रूपरेखा :

1.3.0 उद्देश्य
1.3.1 प्रस्तावना
1.3.3 काव्य में अलंकारों का स्थान एवं महत्त्व
1.3.3 अलंकार और अलंकार्य
1.3.4 अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार
1.3.5 अलंकारों का लक्षण
1.3.6 अलंकारों का विकास
1.3.7 अलंकार – परिभाषा एवं वर्गीकरण
1.3.8 विभिन्न अलंकार – लक्षण और परिभाषा
1.3.8.1 स्वयं जांच अभ्यास
1.3.9 सारांश
1.3.10 शब्दावली
1.3.11 प्रश्नावली
1.3.12 पुस्तक सूची

1.3.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय के माध्यम से आपको अलंकार सम्प्रदाय से संबंधित विस्तृत जानकारी मिल जाएगी। जिसमें काव्य में अलंकारों का स्थान एवं महत्त्व, अलंकार और अलंकार्य अलंकार सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण, अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार, अलंकारों के लक्षण, अलंकारों का विकास, अलंकार–परिभाषा एवं वर्गीकरण शामिल है। इस जानकारी के अलावा विभिन्न अलंकारों के लक्षण और परिभाषाएं भी शामिल हैं।

1.3.1 प्रस्तावना :

अलंकार काव्य में विद्यमान वह तत्त्व है, जो काव्य की कलात्मकता को सौंदर्य से

संपकृत् कर देता है, अतः संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने अलंकार को सौंदर्य पर्याय माना था।

आधुनिक काल में काव्य सौन्दर्य पर व्यापक अनुसन्धान हुआ है तथा इसके परिणाम स्वरूप यह अवधारणा उद्भूत हुई है कि काव्य में अलंकार का जो स्वरूप है वह वैचित्रा्य से संवलित हेाता है।

अलंकार शब्द दो शब्दों के योग से बना है और वे शब्द हैं – 'अलं' तथा 'कार'। कर्ता अर्थ में 'अण्' प्रत्यय से निष्पन्न होने के कारण इसका तात्पर्य हुआ– 'अलंकृत करने वाला।' अर्थात् अलंकार तत्त्व काव्य को अलंकृत करने वाला तत्त्व है।

अलंकारों का महत्त्व साहित्य के प्रति प्राचीन काल से सर्वमान्य रहा है। अलंकारों के प्रयोग से वस्तुतः काव्य में एक आकर्षण उत्पन्न होता है, जिससे श्रोता या पाठक उसके प्रति सहज आकृष्ट हो उठता है। यह अलंकार तत्त्व काव्य में विद्यमान शब्द एवं अर्थ नामक तत्त्वों का धर्म होता है, अतः इसे शब्दार्थनिष्ठ माना गया है।

1.3.2 काव्य में अलंकारों का स्थान एवं महत्त्व :

यद्यपि अलंकारवादी साहित्यचार्यों ने अलंकार को रस, गुण, भाव आदि सबसे ऊपर स्थान दिया और उसका इतना महत्त्व प्रतिपादित किया कि उसे काव्य का प्राणभूत तत्त्व अथवा काव्य–शोभा का पर्याय मान लिया। तथापि रसवादियों एवं ध्वनिवादियों ने उन पर प्रहार कर अलंकार को रस गुण आदि का केवल अनित्य शोभावर्धक तत्त्व सिद्ध करके उसे अत्यन्त साधारण धरातल पर ला खड़ा किया। परन्तु अलंकारों की काव्य में महत्ता और उपयोगिता की वे भी अवहेलना नहीं कर सके। रसवादी आचार्यों ने अलंकारों को न केवल शब्द और अर्थ का उपकारक माना, अपितु रस, भाव वर्ण्यवस्तु का भी उपकारक माना, अर्थात् अलंकारों को विशिष्ट वचन शैलियां बताते हुए और उनका स्थान शरीर रूप स्वीकार करते हुए भी यह कहा कि ध्वनि या रस–ध्वनि के अंगरूप बनकर ये अलंकार आत्मा की प्रकृति धारण कर लेते हैं। अतः उन्हें केवल बहिरंग स्थान नहीं दिया जा सकता। वामन ने भी अलंकारों को गुणों के अतिशय को हेतु कह कर अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। केवल मम्मटादि कुछ ही आचार्यों ने अलंकारों के बिना भी श्रेष्ठ काव्य संभव माना है। परन्तु अलंकारों को रसादि का उपासक सहायक तत्त्व वह भी स्वीकार करते हैं।

आधुनिक कालीन हिन्दी के कतिपय विद्वानों एवं कवियों ने भी काव्य में अलंकारों के स्थान तथा महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किये हैं। आचार्य शुक्ल रसवादी आचार्य थे। वह कोरे उक्ति चमत्कार अथवा सूक्ति अथवा अलंकृत उक्ति को काव्य मानने के पक्ष में नहीं थे। सुमित्राानन्दन पंत अलंकारों को वाणी की सज्जा का साधन मानकर भावाभिव्यक्ति का विशेष द्वार आदि मानते हैं, 'अलंकार केवल वाणी की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उत्पादन हैं। वाणी के आचार–विचार एवं रीति–नीति हैं। वे वाणी,

हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक और हाव–भाव है।'

बिहारी ने अपने काव्य में अलंकारों का अत्याधिक प्रयोग किया है। अतः कह सकते हैं कि अलंकार मुख्यतः काव्य के उपकारक सौन्दर्यवर्धक धर्म हैं। हां, यह बात अवश्य है कि यदि काव्य में भाव ही निर्जीव, निष्प्राण तथा सशक्त होगे तो अलंकार शोभा को बढ़ाने में उसी प्रकार असमर्थ होंगे जिस प्रकार सुन्दर मृत नारी को पहनाए गए आभूषण।

1.3.3 अलंकार और अलंकार्य :

अलंकार और अलंकार्य के अन्तर को भी स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा। यद्यपि पिछले विवेचन में इन दोनों का अन्तर प्रकारात्मक से स्पष्ट हो चुका है तथापि यहां इस प्रकार विचार करना पुनरावृत्ति दोष नहीं होता। अलंकार जिसके सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं अथवा जिसके लिए काव्य में अलंकारों का प्रयोग होता है, वह अलंकार्य है। विद्वानों के मतानुसार रस, ध्वनि, विचार, भाव, वस्तु आदि को ही अलंकार कहा जाता है। वैसे तो यह स्पष्ट ही है कि अलंकार और अलंकार्य पृथक्–पृथक् हैं, अलंकार्य साध्य तो अलंकार साधन हैं, परन्तु अलंकारवादी, ध्वनिवादी, रीतिवादी तथा क्रोचे आदि कुछ विद्वानों के कथन अलंकार अंलकार्य के एक दूसरे में समाहित हो जाने अथवा दोनों के एक ही होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं।

डॉ. गोबिन्द त्रिागुणायत आदि अधिकांश विद्वानों ने अलंकार और अलंकार्य में व्यावहारिक रूप में स्पष्ट भेद स्वीकार किया है, परन्तु साथ ही दोनों में अटूट सम्बन्ध ा भी माना है। डॉ. गोबिन्द त्रिागुणायत के शब्दों में 'काव्य की आत्मा' रस है। रस को क्रियाशील बनाने वाला पक्ष ही होता है। कला पक्ष के अन्तर्गत शैली सम्बन्धी सभी तत्त्व आ जाते हैं। अलंकार शैली का ही तत्त्व और विशेषण है। कुशल कलाकार की शैली में वह नित्य रूप से वर्तमान रहते हैं। उनकी वाणी बिना प्रयास के ही सुन्दर अलंकारों की सृष्टि करती चलती है। हिन्दी साहित्य की भक्ति युग की रचनाओं में अलंकारों की योजना इसी रूप में मिलती है। काव्य में अलंकार जहां इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं। वहां वे रस के उत्कर्ष के आवश्यक उत्पादन सिद्ध हुए हैं। इसके विपरीत अब अलंकारों का प्रयोग चमत्कारवाद की प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है तो रस से उनका यह सहज सम्बन्ध विछिन्न सा होता दिखाई देता है। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे काव्य में क्लिष्टत्व दोष का समावेश करने लगते हैं।

1.3.4 अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार :

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक काव्य किसी न किसी रूप में अलंकारों से सुसज्जित होता आया है। हां, यह बात अवश्य है कि उनके प्रयोग में कवियों की रूचि कम रही है और कभी अधिक। कभी उन्हें इतना महत्व प्रदान किया गया कि उन्हें काव्य के प्राणभूत तत्त्व तक घोषित किया गया है और रूचि के अनेक कारण भी विद्वानों ने अन्वेषित किए हैं। अलंकार की प्रवृत्ति भाषा को शक्ति तथा पूर्णता में

सहायक होना, सभ्यता तथा शिष्टता की प्रवृति, सौन्दर्यप्रियता की प्रवृत्ति, बढ़ा–चढ़ा कर बात को कहने की प्रवृत्ति आदि देने का नेक कारण विद्वानों ने बनाए हैं। प्रायः सभी कारणों का मनोविज्ञान से सम्बद्ध है अतः कह सकते हैं कि काव्य अलंकारों का प्रयोग मनोवैज्ञानिक कारणों से ही होता है। मानव सौन्दर्य प्रिय है, यह एक सार्वभौमिक तथा सार्वकालीन तथ्य है। सौंदर्य प्रियता के कारण ही इसमें आस–पास की वस्तुओं, वातावरण, पदार्थों आदि को सुसज्जित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वाणी सुसज्जित करने की प्रवृत्ति ही अलंकार है। कुछ विद्वानों ने इसी कारण अलंकार को सौंदर्य का पर्याय माना है। अलंकार का अर्थ व्यावहारिक जीवन में आभूषण है, जो सौन्दर्यप्रियता का ही तो सूचक है। संस्कृत के साहित्यचार्यों ने काव्यलंकारों की तुलना हार, कुंडलादि से की है।

दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण प्रभावोत्पादकता की प्रवृत्ति है मानव–मन दूसरों को प्रभावित करने के लिए सदा से लालायित रहा है। अपनी क्रिया, व्यवहार, कर्म, बात, तर्क, विचार, कार्य आदि सभी के द्वारा वह दूसरों को प्रभावित करना चाहता है। मनुष्य वीरता, शौर्य, उत्साह आदि के बड़े–बड़े कार्य मुख्यतः इसी से प्रेरित होकर करता है। कवि भी अपनी वाणी प्रभावशाली बनाना चाहता है, इसी से वह अलंकारों का प्रयोग करता है, क्योंकि वह देखता है कि सीधी–सादी सपाट वाणी में सुहृदयों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है, जितनी अलंकारमयी वाणी में।

डॉ. गोबिन्द त्रिागुणायत ओज को भी अलंकारों के प्रयोग का एक मनोवैज्ञानिक कारण मानते हैं। उसके शब्दों में 'कवि स्वभाव से ही सहृदय और कलाकार होते हैं। उनकी सहृदयता उनकी भावना को उद्दीप्ति मन के ओज पर निर्भर है। अतः मन के ओज को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलंकारों के अस्तित्व को गुण माना गया है।' आगे चलकर वह और भी लिखते हैं कि 'इनके मनोवैज्ञानिक आधार, आत्मगत भावावेशों तथा भावावेशों की प्रभावोभिव्यंजक रूप से व्यक्त करने की कामना ही कही जा सकती है।

रसानुभूति अथवा भावना का उत्कर्ष भी अलंकारों के प्रयोग का अन्य मनोवैज्ञानिक आधार है। मानव मन अशिष्ट, असभ्य, निन्दनीय तथा अशुभ प्रयोगों से भी बचना चाहता है। इस से अलंकार मनुष्य की अत्याधिक सहायता करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य में अलंकारों के मूल में विभिन्न मनोवैज्ञानिक कारण है। वास्तव में अलंकारों को काव्य का उपकारक या सहायक मानने के मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक ही हैं। अलंकार की प्रायः सभी परिभाषाएं भी इसी सत्य की सूचक हैं।

1.3.5 अलंकार का लक्षण :

उपर्युक्त विवेचन में अलंकार का लक्षण स्पष्ट किया जा चुका है। यहां विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं को एक स्थान पर एकत्रित किया जा रहा है –

1. भामह – 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृति।'

अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्रा्य ही अलंकार है।

2. दण्डी – –काव्य शोभाकरन् धर्मानलंकार प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य को शोभा प्रदान करने वाले धर्म अलंकार कहे जाते हैं।

3. वामन – 'सौन्दर्यमलंकारः।' अथवा काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तद्तिशयोहेत–वस्त्वलंकार अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है। अथवा काव्य–शोभा का कर्ता गुण है और उसके (गुण का) उत्कर्ष के हेतु अलंकार है।

1.3.6 अलंकारों का विकास :

यद्यपि वेद, रामायण आदि ग्रंथों में अलंकारों का प्रयोग हुआ है, तथापि काव्य–शास्त्रा में अंलकार की मीमांसा बहुत बाद में प्रारंभ हुई। सर्वप्रथम भरतमुनि ने चार ही अलंकारों का उल्लेख किया उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। 'अग्निपुराण' में 16 अलंकारों की चर्चा मिलती है, इसके बाद ईसा की छठी शताब्दी तक ऐसा कोई ग्रंथ नहीं मिलता, जिसमें अलंकार का विकास होता रहा। इसका प्रमाण भामह और दण्डी के ग्रंथों से मिलता है। भामह ने काव्यालंकार में 88 अलंकारों का विवेचन किया है। उन्होंने प्रायः सभी अलंकार परम्परा से प्राप्त किए। उन्होंने समस्त अलंकार का मूल वक्रोक्ति को माना जिससे उनका अभिप्राय अतिशयोक्ति अथवा अतिरंजना ही है। दण्डी ने 35 अलंकारों पर प्रकाश डाला है। भामह ने प्रतिवस्तूपमा आदि कुछ भेद स्वीकार नहीं किए। उन्होंने अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल माना है। वामन ने 33 और उद्भट ने 40 अलंकारों का उल्लेख किया। तदुपरान्त अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती गई। मम्मट ने 67, भोजरात ने 72, रूय्यक ने 81, विश्वनाथ ने 82, जयदेव ने 100, जगन्नाथ ने 171, अप्पयदीक्षित ने 198 अलंकार गिनाए।

वास्तव में अलंकारों और उनकी संख्या भेदोपभेद के विषय में दृष्टिकोण की भिन्नता स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि से आज तक मतैक्य देखने को नहीं मिलेगा। उपर्युक्त साहित्याचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर, बाणभट्ट, प्रतिहारेन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, आदि संस्कृत के आचार्यों तथा हिन्दी के कुछ रीतिकालीन कवियों (जसवंत सिंह, मतिराम आदि) ने भी अलंकार–निरूपण किया है।

1.3.7 अलंकार–परिभाषा एवं वर्गीकरण :

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति 'अलम' और 'कार' दो शब्दों से हुई है। 'अलम' का अर्थ है 'भूषण' और 'कार' का अर्थ है 'करने वाला'। अर्थात् अलंकार शब्द से अभिप्राय है अलंकृत या आभूषित करने वाला। स्वयं वामन ने 'अलंकृतिः अलंकार' कहकर इस शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। मम्मट के अनुसार जैसे शरीर की शोभा बढ़ाने वाले कंगन, कुण्डल आदि अनेक प्रकार के भूषण या गहने होते हैं, वैसे ही अलंकार शब्द

तथा अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म हैं। अस्थिर धर्म से अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकारों की स्थिति आवश्यक नहीं, गुणों के समान वह नियत नहीं, गुण तो काव्य में अनिवार्य रूप से रहते हैं और रस का सदा उपकार करते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रा के आदि आचार्य भरतमुनि से अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ तक आते–आते अलंकारों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली गई। भरत के समय इनकी संख्या यमक, रूपक, उपमा तथा दीपक केवल चार थी, तो पं. जगन्नाथ के समय इनकी संख्या बढ़कर 191 हो गई और भोज तक पहुंचते–पहुंचते इनकी संख्या में और वृद्धि हो गई। इस बढ़ती संख्या को देखते हुए अध्ययन के लिए इनका वर्गीकरण तो अपेक्षित है।

अलंकारों के वर्गीकरण का सर्वप्रथम निर्देश हमें उद्‌भट में दिखाई पड़ता है। उन्होंने अलंकारों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पंचम तथा षष्ठ छह वर्गों में विभाजित किया, किन्तु उनका यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, क्योंकि इसका आधार न तो कोई अन्य ठोस कारण ही है। लेकिन इस वर्गीकरण का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। उद्‌भट के उपरान्त रूद्रट ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए रूद्रट ने उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया : 1. वास्तव 2. औपम्य 3. अतिशय तथा 4. श्लेष। इनके उपरान्त 12वीं शताब्दी में अलंकारवादी आचार्य रूय्यक ने अलंकारों को पांच वर्गों में विभाजित किया। वह वर्गीकरण इस प्रकार हैः–

1. सादृश्य मूलक – इस वर्ग के अन्तर्गत 28 अलंकार रखे गए, जिनका मूलाधार सम्धर्म्य है जैसे उपमारूपक, श्लेषा, उत्प्रेक्षा आदि।

2. विरोध मूलक – इस वर्ग में 6 ऐसे अलंकार हैं जिनका मूलाधार विरोधात्मक वर्णन है। ये अलंकार हैं विरोध, विभावना, विरोधाक्ति, सम, विचित्रा, अतिश्योक्ति आदि।

3. शृंखलाबन्ध मूलक – इस वर्ग में ऐसे अलंकार रखे गए हैं, जिनमें पद या वाक्य शृंखलाक्त किसी दूसरे पद या वाक्य से सम्बद्ध रहता है। करणमाला, एकावली, मालदीपक एवम् सार ये ऐसे अलंकार है, जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

4. न्याय मूलक – न्याय अथवा तर्क पर आधारित अलंकारों को इस वर्ग में रखा गया है। यथासंख्या परिसंख्या तथा वक्रोक्ति केवल तीन अलंकार इस वर्ग में रखे जाते हैं।

5. गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक – गूढ़ अर्थों पर आधारित अलंकारों को इस वर्ग में रखा गया है। सूक्ष्म, व्याजोक्ति तथा वक्रोक्ति केवल तीन अलंकार इस वर्ग में रखे

जाते हैं।

इन पांच वर्गों के अलंकारों से अतिरिक्त कुछ अलंकार ऐसे भी हैं, जिन्हें रूद्रट ने किसी भी वर्ग में रखना उचित नहीं समझा। ये अलंकार है – भावोदय, भाव सन्धि और भावशबलता आदि। रूद्रट का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक है और विद्वानों में पर्याप्त मान्य भी रहा किन्तु फिर भी यह अधिक प्रचलित न हो सका, सम्भवतः इसका कारण इस वर्गीकरण का असुविधाजनक होना है।

सुविधा की दृष्टि से विविधाचार्यों ने अलंकारों को तीन कोटियों में विभक्त किया है वे ह :

1. शब्दालंकार 2. अर्थालंकार तथा उभयालंकार। यह वर्गीकरण पहले वर्गीकरण से अधिक सार्थक है। क्योंकि रुद्रट के वर्गीकरण में शब्दालंकारों को कोई स्थान नहीं दिया गया था, जिन्हें रुद्रट के किसी भी वर्ग अथवा श्रेणी में नहीं रखा। इस वर्गीकरण से ऐसी सभी कठिनाइयां दूर हो गईं। अतः रुद्रट के वर्गीकरण से यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक है।

क) शब्दालंकार – ध्वनि और अर्थ शब्द के दो मुख्य रूप हैं। ध्वनि रूप के आधार पर ही शब्दालंकारों का निर्माण होता है। शब्दालंकार काव्य का संगीत धर्म है। दूसरे शब्दों से शब्दालंकार शब्द में निवास करता है, अर्थात् यहां शब्द प्रधान होता है, उसे हटाया नहीं जा सकता। यदि उसके स्थान पर उसका कोई पर्याय रख दिया जाए तो अलंकार एकदम गायब हो जाएगा।

शब्दालंकार इस प्रकार हैं:–

1. अनुप्रास 2. यमक 3. श्लेष 4. वक्रोक्ति 5. पुररुक्ति 6. पुनरक्तवदाभास 7. वीप्सा 8. चित्रा, 9. प्रहेलिका 10. भाषा सम।

ख।) अर्थालंकार – अर्थ के आधार पर अर्थालंकार की सृष्टि होती है। यह काव्य का चित्रा धर्म है। यहां शब्दों के पर्यायों में परिवर्तन करने पर भी अलंकार की स्थिति बनी रहती है। क्योंकि यह शब्द विशेष पर आश्रित नहीं होता। इसलिए इसमें शब्द विशेष के पर्याय का परिवर्तन स्वीकार होता है। किन्तु ऐसे शब्द का पर्याय–परिवर्तन ही स्वीकार होता है, जिससे अर्थ में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। वास्तव में अर्थालंकार अर्थ को अलंकृत करते हैं और अर्थ का चमत्कार बना रहता है।

अर्थालंकार की संख्या निश्चित नहीं जा सकती। क्योंकि इस वर्ग के अलंकारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों पर किया जाता है।

ग) उभयालंकार – जहां शब्द और अर्थ दोनों को चमत्कृत किया जाता है, वहां उभयालंकार होता है। ऐसे पद अथवा छन्द में एक से अधिक अलंकारों का संयोग रहता है, यह संयोग विभिन्न रूप से होता है, कहीं पर दो शब्दालंकार और कहीं पर अर्थालंकार और कहीं पर दोनों ही एक छन्द से मिले रहते हैं। इनका मेल कभी प्रकट हो जाता है और वे परस्पर ऐसे समा जाते हैं कि उनको अलग करना

असंभव होता है क्योंकि यहां पद में दो या दो से अधिक शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार समन्वित होते हैं। इसलिए इन्हें उभयालंकर के अतिरिक्त शब्दालंकार, मिश्रितालंकार तथा मिश्रिलंकार भी कहते हैं।

उभयालंकार की संख्या दो हैः– 1. संसृष्टि तथा 2. संकर

1.3.8 विभिन्न अलंकार : लक्षण और उदाहरण –

अनुप्रास – इस शब्द की व्युत्पत्ति अनु+प्रास+आस से हुई है। जिसका अर्थ है वर्णनीय रस के अनुकूल बार–बार रखा जाना।

लक्षण – अनुप्रास अलंकार में स्वरों की विषमता होते हुए भी व्यंजनों की समता रहती है।

उदाहरण – 'बंदऊँ गुरु–पदर–पदुप–परागा।
सुरुचि, सुवास सरस, अनुरागा।'

पुष्टि– इस छन्द में वर्णनीय रस की अनुकूलता के अनुसार 'पद', 'पदुप', 'परागा', में 'प' वर्ण तथा 'सुरूचि', सुवास, सरस में 'स' वर्ण की एक से अधिक बार पार पास–पास आवृत्ति हुई है। अतः यहां अनुप्रास अलंकार है।

अनुप्रास अलंकार के पांच भेद हैंः– 1. छेकानुप्रास 2. वृत्यनुप्रास 3. श्रुत्यनुप्रास 4. लाटानुप्रास तथा 5. अन्त्यानुप्रास।

2. श्लेष–'श्लेष' शब्द 'शिलष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है चिपटना। अर्थात् एक शब्द के प्रसिद्ध अर्थ के साथ दूसरा अर्थ भी चिपका रहता है। इस प्रकार श्लेष अलंकार का लक्षण हुआ – कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके एक से अधि ाक अर्थ निकलें वहां श्लेष अलंकार होता है।

श्लेष अलंकार के दो भेद होते हैं। 1. शब्द–श्लेष 2. अर्थ–श्लेष। शब्द–श्लेष में विशिष्ट शब्द के आधार पर एक से अधिक अर्थों की संभावना रहती है। यहां विशेष शब्द के स्थान पर उसके समान अर्थ वाला अन्य कोई पर्यायवाची शब्द रख दिये जाने पर भी अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु अर्थ श्लेष में पर्यायवाची शब्द रख दिये जाने पर अर्थ–विभिन्नता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अर्थ श्लेष का विवेचन अर्थालंकारों में आपेक्षित है। यहां केवल शब्द–श्लेष की चर्चा ही उचित है।

शब्द–श्लेष के दो भेद होते हैं – 1. अभंग पद श्लेष तथा 2. सभंग पद श्लेष।

उदाहरण – रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे मोती, मानुस चून।। रहीम।।

3. वक्रोक्ति – वक्र+उक्ति से वक्रोक्ति की व्युत्पत्ति हुई जिसका अर्थ है – वक्रतापूर्ण उक्ति, या विदग्धत की उक्ति।

लक्षण – कहै बात औरे कछु, अर्थ करै कछु और।

वक्र उक्ति ताको कहै, श्लेष 'काकु' द्वैठोर।।

अर्थात् वक्रोक्ति अलंकार वहां होता है, जहां कहने वाला बात को किसी अन्य उद्देश्य से कहता है और सुनने वाला उसका कोई अर्थ लगा लेता है। वक्रोक्ति के दो भेद होते हैं 1. श्लेष वक्रोक्ति तथा 2. काकु वक्रोक्ति।

उदाहरण – को तुम? हैं घनश्याम हम, तो बरसो कित जाय

यहां घनश्याम का अर्थ कृष्ण और बादल है। इसलिए नायिका (राधा) अन्यार्थ ग्रहण कर कृष्ण को छकाती है।

अर्थालंकार :

उपमा अलंकार :

एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु से समानता के लिए तोलना देखना अथवा समझना। उपमा समानता बोधक शब्द है। इसका लक्षण इस प्रकार भी दिया गया है:–

जहां दुहंन के देखिय, शोभा बनत समान।
उपमा भूषण ताहि को, भूषण कहत सुजान।।

लक्षण – जहां दोनों पक्षों (उपमेय और उपमाना) का शोभा का समान रूप से वर्णन किया जाए, उसे सुजान (विद्वान्) लोग उपमा अलंकार कहते हैं।

क) उपमेय – वह वर्णनीय वस्तु है जिसकी किसी अन्य वस्तु से समानता या तुलना की जा रही हो। तात्पर्य यह कि वर्णन का विषय उपमेय कहलाता है।

ख) उपमान – यह वस्तु जिससे वर्णनीय वस्तु की समानता प्रकट की जा रही हो अर्थात् जिस वस्तु से समानता या तुलना की जाए वह उपमान है। उपमान सदैव ही उपमेय से उत्कृष्ट माना जाता है। तभी तो उससे उपमा देने पर उपमेय अधिक उत्कर्षवान हो जाता है।

ग) समान धर्म – उपमेय और उपमान दोनों में जो समान गुण दृष्टिगत होते हैं, समान धर्म कहलाते हैं।

घ) वाचक शब्द – उपमेय और दोनों में जो समानता प्रकट करने वाले शब्द वाचक शब्द कहलाते हैं, जैसे सो, से, सम, समान, सरिस जैसे आदि।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी – 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' वाक्य में 'मुख' उपमेय है, क्योंकि इसकी उमपा (समानता) चन्द्र से की जा रही है। 'चन्द्रमा' उपमान है, क्योंकि इससे उपमेय (मुख) की उपमा दी जा रही है। 'सुन्दर' समानधर्म है और 'समान' वाचक शब्द है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी लिया जा सकता

है। 'पीपर पात सरिस मन डोला' पंक्ति का अर्थ है – पीपल के पत्ते के समान मन डोल गया। अतः यहां उपमा अलंकार हुआ। क्योंकि इस पंक्ति में 'मन' उपमेय है, इसकी उपमा 'पीपर पात' से दी जा रही है। अतः 'पीपर पात' उपमान हुआ। 'डोला' समान धर्म है और सरिस वाचक शब्द उपमा अलंकार के कुछ उदाहरण :–

1. कबीर माया मोहिनी जैसी मीठी खांड।
2. जीवन न दीन बने।
   प्रथम जीवन के मिलन सा चिर नवीन बने।
3. उठे स्वस्थ मनु, ज्यों उठता है।
   क्षितिज बीच अरूणोदय कान्त।

इन सभी में उपमेय की उपमान से समान धर्मश्रित समता है, अतः इनमें उपमालंकार है।

उपमालंकार के दो भेद हैं:– (क) पूर्णोपमा तथा (ख) लुप्तोपमा।

क) पूर्णोपमा – जहां उपमा के चारों अंग (उपमेय, उपमान, समान धर्म तथा वाचक शब्द) प्रकट रूप में वर्तमान हो, वहां पूर्णोपमा होती है जैसे 'पीपर पात सरिस मन डोला' पंक्ति में।

एक अन्य उदाहरण –

ऊषा सुनहले तीन बरसाती जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई। कामायनी।

ख) लुप्तोपमा : जहां उपमा के चारों अंगों (उपमेय, उपमान, साधारण अथवा समान अर्थ तथा वाचक शब्द) में से किसी एक दो या तीन का लोप हो वहां लुप्तोपमा अलंकार होता है। जो अंग लुप्त होता है उसी के नाम लुप्तोपमा कही जाती है। जैसे उपमेय के लुप्त होने पर उपमेय लुप्तोपमा तथा वाचक शब्द के लुप्त होने पर वाचक धर्म लुप्तोपमा। यदि दो अंग लुप्त होंगे तो दोनों अंगों के नाम पर नाम हो जैसे वाचकोमानलुप्तोपमा, उपमेयोमानलुप्तोपमा, सामानधार्मोपमान लुप्तोपमा आदि।

यहां कुछ उदाहरण देने ही पर्याप्त होंगे जैसे पन्त की 'भावी पत्नी के प्रति' कविता की पंक्ति 'शलभ चंचल मेरे प्राण' में प्राण उपमेय है 'शलभ उपमान 'चंचल' साधारण समान धर्म है। वाचक इस पंक्ति में लुप्त है, अतः यहां वाचक धर्म लुप्तोपमा अलंकार है। इसी प्रकार 'रघुपति सम दयालु कहु को है' में 'रघुपति', 'उपमेय', 'सम' वाचक शब्द 'दयालु' धर्म है। उपमान ही केवल लुप्त है, अतः उपमान लुप्तोपमा है। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है, 'वह नव नलिपनी से नयन वाला कहा है।' (प्रिय प्रवास) में समांग धर्म लुप्तोपमा है क्योंकि यहां उपमान (नलिनी), उपमेय (नयन) और वाचक शब्द (से) विद्यमान है। किन्तु समान धर्म लुप्त है। इसी प्रकार – 'राम सदृश को जब मन मोहै'–पंक्ति में राम उपमेय और सदृश वाचक शब्द है, परन्तु धर्म और उपमान का लोप होने से धर्म–उपमान लुप्तोपमा है।

2) मालोपमा – उपमा अलंकार में एक उपमेय के लिए एक ही उपमान प्रधानता से रखा जाता है, परन्तु मालोपमा में एक ही उपमेय के अनेक उपमान दिखलाए जाते हैं। यहां उपमान संख्या से अधिक हो जाते हैं और उपमानों की माला–सी बन जाती है, इसीलिए इसे मालोपमा कहा जाता है।

उदाहरण – 'वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा–सी,
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूरकाल ताण्डव की स्मृति–रेखा–सी,
वह टूटे तरू की छुटी लता–सी दीन।

3) रूपक – रूपक शब्द का अर्थ रूप धारण करना है। नाटक में जिस प्रकार अभिनेता मूल पात्रा राम, दुष्यन्त आदि का रूप धारण करके उनका अभिनय करते हैं और उसी प्रकार काव्य में वर्णित उपमेय जब उपमान का रूप धारण कर लेता है तो वहां रूपक अलंकार होता है। यहां उपमेय और उपमान एक रूप हो जाते हैं अथवा उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है।

उदाहरण – उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
विकसे सन्त–सरोज सब, हरवे लोचन भृंग।।

प्रस्तुत दोहे में मंच (उपमेय) या उदयगिरि (उपमान) के आरोप के साथ–साथ रघुवर (राम) का सूर्य को संत का सरोज (कमल) से और लोचन (नेत्रा) का भृंग (भ्रमर) से रूपक स्थापित किया गया है।

4) अपन्हुति – अपन्हुति शब्द का अर्थ है छिपाना। इस अलंकार से एक प्रस्तुत बात को छिपाकर कोई अन्य (झूठी) बात स्थापित कर व्यक्ति को सन्तुष्ट किया जाता है।

लक्षण – 'आम बात आरोपिए सांची बात छिपाय' अर्थात् इस अलंकार में उपमेय क T
निषेध करके उपमान का आरोप किया जाता है।

उदाहरण – 'मैं जु कहा रघुवीर कृपाला।
बन्धु न होय मोर यह काला।।

5) उत्प्रेक्षा – इस शब्द की व्युत्पत्ति उत् (उपसर्ग)+प्र+ईक्षा से हुई है। उत् का अर्थ है ऊपर या प्रधानता से, प्र का अर्थ है विशेषकर या बलपूर्वक और ईक्षा (ईक्षण) का अर्थ है देखना। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का अर्थ हुआ – उपमान का उत्सुकता से ज्ञान अर्थात् उपमेय को उपमान से भिन्न मानते हुए भी प्रधानता उपमेय में उपमान की बलपूर्वक संभावना करना।

लक्षण – जब उपमेय में उपमान रूप की संभावना की जाए, तब उत्प्रेक्षा अंलकार

होता

है।

उपमा और रूपक से उत्प्रेक्षा में सूक्षम भेद है। रूपक में उपमेय की एकरूपता आ जाती है जबकि उत्प्रेक्षा में संभावना की जाती है। उत्प्रेक्षा के बोधक शब्द हैंः— मनु, जनु, मानो, जानो, मनहुं निश्चय, शंके ध्रुव, इव प्रायः आदि। ये शब्द उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं, जहां इनका प्रयोग नहीं होता वहां संभावना व्यक्त होती है। यदि इनके स्थान पर 'जैसे' अथवा 'समान' जैसे शब्दों का प्रयोग कर दिया जाए, तो वह उपमा अलंकार हो जाएगा।

उदाहरण — सोहत ओढ़े पीत पर स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर आत्तम परयौ प्रभात।।

इस छन्द में श्याम के शरीर की नील तथा उनके ओढ़े पीले दुपट्टे की प्रभात कालीन आतप से 'मनो' नामक वाचक शब्दों के आधार पर संभावना की गई है।

उत्प्रेक्षा अलंकार के तीन भेद हैं — (क) वस्तुप्रेक्षा (ख) हेतुत्प्रेक्षा तथा (ग) फलात्प्रेक्षा।

क) वस्तुत्प्रेक्षा — जहां किसी एक वस्तु (उपमेय) में अन्य वस्तु (उपमान) की संभावना की जाती है वहां वस्तुप्रेक्षा अंलकार होता है।

उदाहरण — उत्प्रेक्षा के उदाहरण में ऊपर दिया छन्द 'सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात' —वस्तुत्प्रेक्षा का भी उदाहरण है। क्योंकि श्याम (कृष्ण) उपमेय में नील मणि शैल (नील मणियों वाले पर्वत) उपमान की संभावना की गई है। एक अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता हैः—

कहते हुए यो पार्थ के दो बूंद आंसू गिर पड़े।
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े।।

यहां इस शब्द में दो आंसू में दो मोतियों की संभावना की गई है।

ख) हेतुत्प्रेक्षा — जहां हेतु कारण के न होते हुए भी अहेतु में हेतु की संभावना की जाए वहां हेतुत्प्रेक्षा अंलकार होता है। उदाहरण — 'मनो कठिन आंगन चली होते राते पाय? सुकोमला नायिका के पांव तो स्वाभाविका रूप में लाल होते हैं। किन्तु कवि ने वहां पैरों का लाल होने का कारण (हेतु) कठिन आंगन में चलना कल्पित कर लिया है। इस प्रकार अहेतु में हेतु (कारण) की संभावना के कारण यहां हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है।

ग) फलोत्प्रेक्षा — जहां फल न होते हुए भी फल की स्थापना की जाए अथवा अफल में फल की संभावना की जाए वहां फलोत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यथा —

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके फूल सों जल परसन हित मनहु सुहाय।।

यमुना के तट पर झुके हुए तमाल के वृक्ष ऐसे लगते हैं मानो उनके झुकने का लक्ष्य पवित्रा जल का स्पर्श करना है। यह वास्तव में असंभव है क्योंकि जड़ पदार्थों का कोई व्यापार ऐसे अभिप्राय को रखकर नहीं किया जाता। यहां पेड़ों के झुकने का लक्ष्य (फल) जल को छूना नहीं, अतः अफल में फल की संभावना (उत्प्रेक्षा) की गई है, इसलिए वहां फलोत्प्रेक्षा अलंकार है।

6) अतिशयोक्ति – यह शब्द अतिशय+उक्ति से निष्पन्न हुआ है। अतिशय का अर्थ है – बढ़ा चढ़ाकर, अतिक्रान्त या उल्लंघनी। यहां किसी की प्रशंसा में बात को बढ़ा–चढ़ा कर वर्णन किया जाता है।

लक्षण – जहां प्रस्तुत (उपमेय) को छिपाकर, अप्रस्तुत (उपमान) के साथ उसकी अभेद प्रतीति कराने का वर्णन होता है, वहां अतिशयोक्ति अलंकार होता है। प्रतीति कराने के लिए वर्णन बढ़ा–चढ़ा कर लिया जाता है। यथा –

हनुमान की पूंछ में लगन न पाई आग।
लंका सगरी जल गई गये निसाचर भाग।।

7) दीपक – जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर रहकर आस–पास की वस्तुओं की प्रकाशित करता है। उसी प्रकार इस अलंकार में एक धर्म प्रस्ततों से सम्बद्ध होता है।

लक्षण – जहां उपमान और उपमेय दोनों में एक धर्म का कथन किया जाए अर्थात् जहां प्रस्तुत (उपमेय) और प्रस्तुत (उपमान) दोनों का एक धर्म कहा जाए वहां दीपक अलंकार होता है।

उदाहरण – 'सुर सरिता सो सिंधु अरू चन्द्रि काहि सों चन्द
की रति सों जसवन्त नृप, महिमा धरत अगन्द।'

यहां राजा जसवन्त सिंह उपमेय है, सिंधु और चन्द्रमा उपमान है। किन्तु सब का धर्म एक ही है – महिमा धारण करना। अतः यहां दीपक अलंकार है।

8) समासोक्ति – समास+उक्ति से यह शब्द निर्मित है जिसका अर्थ है – संक्षेप। यहां संक्षेप में दो अर्थों का कथन (उक्ति) रहता है। किन्तु प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान सम्बन्ध रखने वाले विशेषणों से दोनों और अर्थ संगत हो जाता है। प्रस्तुत के वर्णन में समान विशेषणों से अप्रस्तुत का भी बोध हो जाता है।

लक्षण – जहां प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार किया जाए कि उससे अप्रस्तुत का भी ज्ञान हो, वहां समासोक्ति अलंकार होता है। यथा –

'कुमुदिनिहूं प्रफुल्लित भई कला निधि सांझ।।'

9) विशेषोक्ति – 'जहां कारण के रहते हुए कार्य के न होने में विरोध का भाव

पाया जाता है। अर्थात् प्रसिद्ध कारण से अन्य दूसरे कारणों का वैकल्प रहता है। वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है। यहां कार्य का प्रसिद्ध कारण, उसका सर्वथा अभाव नहीं होता।

लक्षण – जहां कारण के रहते हुए भी कार्य न होने का वर्णन हो, वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है। यथा –

'देखो दो–दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी।'

10) असंगति– असंगति से अभिप्राय है – संगति न होना अर्थात् कार्य कारण का साथ–साथ न होना। यहां कारण कहीं और कार्य कहीं होता है। असंगति में विरोध ा का आभास अवश्य कुछ न कुछ रहता है, इस आभास के बिना कारण तथा कार्य अन्यत्रा होने या भिन्न क्षेत्रा में रहने पर भी असंगति अलंकार नहीं होता।

लक्षण – जहां कार्य और कारण दोनों भिन्न भिन्न क्षेत्राों में वर्णित हों, वहां असंगति अलंकार होता है। यथा –

'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाठ दुरजन हित, दई नई यह रीति।'

1.3.8.1 स्वयं जांच अभ्यास

1. शब्दालंकार किसे कहते हैं?

.....

.....

.....

1.3.9 सारांश :

अलंकार का अर्थ है – सुसज्जित करने वाला शोभा, बढ़ाने वाला प्रसाधन। जिस प्रकार आभूषण किसी स्त्राी के सौंदर्य को बढ़ाने का काम करता है उसी प्रकार से अलंकारों के द्वारा काव्य को भी चार–चांद लग जाता है। अलंकार सम्प्रदाय में अलंकारवादी आचार्य रुद्रट का ऐतिहासिक महत्व है। वह प्रथम ऐसे अलंकारवादी आचार्य हैं, जिन्होंने रस को अलंकार पर आश्रित मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया तथा रस को स्वतन्त्रा महत्त्व प्रदान किया। वामन ने अलंकार को गुण का सहायक माना है। मुख्यतः भारतीय आचार्यों ने ही अलंकारों के स्थान, महत्त्व, भेदोपभेद आदि का विशद् विवेचन किया। पश्चिमी साहित्यकारों ने काव्य के इस तत्त्व पर बहुत ही कम ध्यान दिया। वेद, रामायण आदि ग्रंथों में अलंकारों का प्रयोग हुआ है, तथापि काव्य शास्त्रा में अलंकार की मीमांसा बहुत बाद में प्रारंभ हुई।

1.3.10 शब्दावली :

1) शोभा – प्रसाधन
2) आभूषण – गहने
3) अंजन – काजल
4) मुक्ताहार – मोतियों की माला
5) पृथक् – अलग
6) निराधार – बिना किसी आधार के

1.3.11 प्रश्नावली :

1) अलंकार किसे कहते हैं? किसी एक विद्वान् का मत भी दें।
2) अलंकार के कितने भेद हैं? संक्षिप्त टिप्पणी करें।
3) अर्थालंकार किसे कहते हैं? पांच छह पंक्तियों में लिखें।
4) काव्य में अलंकारों का क्या स्थान एवं महत्त्व है?
5) अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?
6) शब्दालंकार के कितने प्रकार के हैं। नामों का उल्लेख करें।
7) छेकानुप्रास की उदाहरण और लक्षण लिखें।
8) श्लेष अलंकार का लक्षण और उदाहरण दें।
9) रूपक अलंकार के बारे में बताए।
10) उत्प्रेक्षा अंलकार का लक्षण और उदाहरण लिखें।

1.3.12 पुस्तक सूची :

1) अलंकार परिजात – स्वामी नरोत्तमदास
2) अलंकार परिचय – स्वामी नरोत्तमदास
3) हिन्दी अलंकार साहित्य – डॉ. ओम प्रकाश
3) अलंकार कौमुदी – परमेश्वरानंद

पाठ संख्या : **1.4** लेखक : डॉ. कृष्ण भावुक

रीति संप्रदाय और वक्रोक्ति सिद्धान्त

रूपरेखा :

1.4.0 उद्देश्य
1.4.1 प्रस्तावना
1.4.2 रीति सिद्धान्त
- 1.4.2.1 व्युत्पत्तिलभय अर्थ
- 1.4.2.2 रीति का ऐतिहासिक विकास
- 1.4.2.3 रीति के आधार भूत तत्व
- 1.4.2.4 रीति का महत्व

1.4.3 वक्रोक्ति सिद्धान्त
- 1.4.3.1 परंपरा अथवा विकास
- 1.4.3.2 वक्रोक्ति के भेद
- 1.4.3.4 अन्य सिद्धान्तों के संदर्भ में वक्रोक्ति सिद्धान्त का महत्व
- 1.4.3.5 स्वयं जांच अभ्यास

1.4.4 सारांश
1.4.5 शब्दावली
1.4.6 प्रश्नावली
1.4.7 पुस्तक सूची

1.4.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय के माध्यम से विद्यार्थीगण रीति संप्रदाय और वक्रोक्ति सिद्धान्त की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर पाएंगे। जिसके अंतर्गत रीति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, ऐतिहासिक विकास, रीति के आधारभूत तत्व, रीति का महत्त्व, तत्पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त : परंपरा अथवा विकास, वक्रोक्ति के भेद, अन्य सिद्धान्तों के संदर्भ में वक्रोक्ति सिद्धान्त का महत्त्व भी शामिल है। अध्याय के अंत में पूरे पाठ का संक्षिप्त सार भी दे दिया गया है। कठिन शब्दों के अर्थ देने के पश्चात् इस पाठ से संबंधित कुछेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भी रखा गया है। परीक्षा में ऐसे प्रश्नों का उत्तर पांच–सात

पंक्तियों में ही देना होगा।

1.4.1 प्रस्तावना :

रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन भी मूलतः संस्कृत काव्य शास्त्रा के अंतर्गत ही हुआ। संस्कृत काव्यशास्त्रा के प्रमुख आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित कर काव्य के अंगभूत प्रमुख तत्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने रीति को परिभाषित करते हुए बतलाया कि रीति काव्य में प्रयुक्त विशिष्ट पदों की रचना होती है। विशिष्ट पद वे हैं, जो प्रायः काव्यगुणों से संबलित होते हैं। चूंकि वामन ने मत में काव्यगुण शब्दार्थ के धर्म होते हैं, अतः उनका अभिप्राय यह है कि शोभाकारक शब्द एवं अर्थ के धर्मों से युक्त पदरचना ही रीति है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय कुन्तक को है, यद्यपि इनसे पूर्व वक्रोक्ति–तत्त्व व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त अलंकार, रीति, रस और ध्वनि में प्रमुख काव्य तत्व भी सम्यक् रूप से प्रतिपादित हो चुके थे, किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसे काव्य का जीवित (आत्मा) माना।

1.4.2 रीति–सिद्धान्त :

अर्थ, परम्परा, स्वरूप, आधारभूत तत्व, रीति और दोष और शैली, रीति सम्प्रदाय का महत्व। 'रीति' को स्वतन्त्रा सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रयोग किया है। इनसे पूर्व भी रीति का प्रयोग हो चुका था, किन्तु इसके लिए मार्ग शब्द का प्रयोग होता था रीति का नहीं। वामन के बाद उद्भट, रूद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोजराज, मम्मट और विश्वनाथ ने भी रीति का प्रत्यक्ष अथवा प्रकारान्तर से प्रयोग किया।

1.4.2.1 व्युत्पत्तिलभय अर्थ :

रीति शब्द 'रीड' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है अर्थात् 'रीड गतौ गत्यथक रीड' जिसका अर्थ मार्ग है। प्रणाली, पद्धति, पन्थ, वीथि, गति, प्रस्थान आदि इसके पर्याय हैं। अर्थात् वह मार्ग या पद्धति जिसमें काव्य के अन्तर्गत शब्द–विन्यास की कला बताई जाये, रीति कहलाती है। जैसे शरीर में अंग–विन्यास का महत्व है, उसी प्रकार ही काव्य में शब्द–विन्यास का, जो अंग जहां जैसा होना चाहिए वहां वैसा हो तभी यह शोभा पाता है। आंख की जगह कान हो तो सौन्दर्य बढ़ने के बदले कम हो जायेगा। इसी तरह जहां जैसा शब्द प्रयोग उचित हो वहां वैसा होने पर ही काव्य सुन्दर प्रतीत होता है।

1.4.2.2 रीति का ऐतिहासिक विकास :

यद्यपि रीति–सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आचार्य वामन को है तथापि इनसे पूर्व भी रीति सम्बन्धी विचारों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं :

भरत (ई. पूर्व) :

भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्रा' में रीति के लिए प्रवृति शब्द का प्रयोग किया है। प्रवृति का प्रयोग करते हुए इसके चार भेदों की व्याख्या की है। भरत की प्रवृति स्थानीय विशेषताओं को सूचित करती है। अर्थात् भारत ने भारतवर्ष में प्रचलित प्रवृतियों–आवंती (पश्चिम) दक्षिणा या (दक्षिण) पंचाली (मध्यप्रदेश) तथा गाड़मागधी (उड़ीसा–मगध) का वर्णन किया है। भरत के मत से पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा, आचार को व्यक्त करने को प्रवृति कहते हैं।

बाणभट्ट :

भारत के पश्चात् बाण ने अपने समय में प्रचलित चार दिशाओं की चार शैलियों का उल्लेख किया है। ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय सोच प्रसादान्त को महत्व देती रही, पाश्चात्य सोच त्रासदी के माध्यम से विरेचन को। यह मुख्य एवं सामूहिक अन्तर चारों दिशाओं का हो सकता है। उनके अनुसार उदीन्य (उत्तर प्रदेश) निवासी श्लेष के प्रतीन्य (पश्चिम) लोग अर्थमात्रा या अर्थगौरव को दक्षिणत्य उत्प्रेक्षा को एवं गौड़ या पूर्व के लोग अक्षराडम्बर को अधिक महत्व देते हैं।

भामह (6वीं शती) :

भरत की तरह भामह ने रीति का देशों के सम्बन्धित रूप में वर्णन किया है। इन्होंने यद्यपि रीति, मार्ग या वर्ग शब्द का प्रयोग नहीं किया किन्तु उन्होंने काव्य भेदों में वैदर्भ और गौड़ीय का निर्देश किया है। जिन्हें हम रीति के पर्यायवाची मान सकते हैं क्योंकि उनके समय में वैदर्भ और गौड़ ये दो मार्ग ही प्रचलित हैं।

दण्डी (7वीं शती अन्तिम चरण) :

दण्डी ने सर्वप्रथम रीति सिद्धान्त का अत्यन्त मनोनिवेश के साथ विवेचन किया। आचार्य दण्डी ने इस सिद्धान्त को मार्ग–सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने शब्द और अर्थ की उचित योजना को ही मार्ग अथवा रीति के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने रीति में व्यक्तित्व की सत्ता स्थापित करते हुए प्रत्येक कवि को विशिष्ट रीति मानने का विचार व्यक्त किया।

वामन (8वीं, 9वीं शती के बीच) :

दण्डी के अनन्तर रीति सिद्धान्त की प्रबल व्याख्या आचार्य वामन ने की। उनके अनुसार रीति काव्य का मूल तत्व है – काव्य की आत्मा है – रीतिरात्मा काव्यस्व। दण्डी के मार्ग शब्द के स्थान पर वामन ने संभवतः पहली बार रीति शब्द का प्रयोग किया जो आगे चलकर प्रायः सर्वमान्य हुआ। रीति की परिभाषा करते हुए वामन ने उसे विशिष्ट अर्थात् कतिपय विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न पद रचना कहा है।

उद्भट (8वीं शती) :

उद्भट ने रीति शब्द के बदले वृत्ति शब्द का प्रयोग किया जो कुछ सीमा में रीतियों

से मेल खाती है। इन्हें उसने तीन ही रूपों में बांटा है – 1. कठोर वर्णों की वृत्ति को पुरूषा कहते हैं 2. कोमल वर्णों की योजना को कोमल वृत्ति कहते हैं और 3. तीसरी को इन दोनों से समन्वित मघवार्तेणी वृत्ति कहा।

रूद्रट (9वीं शती का मध्य भाग) :

रूद्रट ने रीति की संकल्पना में एक नया परिवर्तन स्थापित किया। उन्होंने समान–योजना की रीति को निर्धारक तत्व माना। उसके अनुसार, वैदर्भी रीति में समास रहित पद रचना होती है। गौड़ी में लंबे लंबे समासों का प्रयोग होता है एवं पांचाली में छोटे–छोटे समास होते ह्वैं तथा मध्यम आकार के समासों की योजना की संभावना को स्थान देने के लिए रूद्रट ने चौथी रीति की कल्पना को आकार देश (दक्षिण गुजरात) के नाम पर इसे नारी नाम दिया। रूद्रट ने रीति का सम्बन्ध रस के साथ जोड़ा जिसका विकास आगे चलकर ध्वनि–मार्ग के आचार्यों ने किया। इसके अतिरिक्त प्रयुक्त होनी चाहिए, इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने दिया।

कुन्तक (950 और 1050 ई. के बीच) :

रीति के सम्बन्ध में कुन्तक की उद्भावनाएं हैं। उन्होंने प्रादेशिक आधार पर रीतियों के स्वरूप निर्धारण की प्रवृत्ति का विरोध किया क्योंकि प्रदेश तो असंख्य हैं और असंख्य रीतियां करनी पड़ेंगी। दूसरे एक ही प्रदेश के दो कवियों की काव्यरीति एक ही नहीं होती अतः यह विभाजन ठीक नहीं। कुन्तक ने रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानने के सिद्धान्त का भी खण्डन किया क्योंकि शब्दों में कवि–स्वभाव को रीति का नियामक तत्व या रीति भेद का आधार माना और रीति संकल्पना में वैयक्तिक तत्व की प्रतिष्ठापना की।

आनन्दवर्धन (9वीं शती का उत्तरार्ध) :

आनन्दवर्धन ने रीति से मिलते–जुलते शब्द संघटना का प्रयोग किया अर्थात् शब्द को संघटन की रीति कहा। संघटना ध्वनिकार के अनुसार माधुर्य आदि गुणों की आध ाारभूमि पर टिकती है एवं विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।

विश्वनाथ (13वीं शती का अन्त और 14वीं का आरंभ) :

विश्वनाथ ने पदों की संघटना को रीति की संज्ञा प्रदान की तथा उसे रस–भाव आदि की सहायक माना। उन्होंने रीति के परम्परागत चार भेद माने–वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तथा लाटी। विश्वनाथ ने काव्य–गुणों की व्याख्या रीति–निपेक्ष एवं दूसरी ओर रस–सापेक्ष की है। वस्तुतः उसका गुण विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों का सामंजस्य उपस्थित करता है।

1.4.2.3 रीति के आधारभूत तत्व :

वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध सौंदर्यवादी था। अतः उन्होंने उन सब गुणों जिनसे काव्य सौंदर्य की सृष्टि हो सकती है, को रीति के आधारभूत तत्वों में संकलित किया है, रीति

के आधारभूत तत्व गुण, दोष और अलंकार ही हैं।

रीति और गुण :

रीति के विकास की यात्राा को देखने से एक बात बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर सम्मुख आई कि रीति और गुण का परस्पर गहरा संबंध है। वामन ने गुणों को रीति के मूल तत्व के रूप में देखा था और उसके परवर्ती आचार्यों ने भी प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षत। वामन ने इस विचार का समर्थन किया। आनन्दवर्धन ने रीति और गुण के सम्बन्ध को लेकर तीन संभावनाएं रखीं – रीति गुण में अभेद, रीति गुणाश्रित और गुण रीति आश्रित। इनमें भी अन्ततः रीति को गुणाश्रित ही स्वीकार किया गया।

गुण का स्वरूप :

काव्यशास्त्रा में भरतमुनि ने दोषों के वियर्पय को गुण कहा है। दण्डी के अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार हैं और गुण भी एक प्रकार के अलंकार हैं अर्थात् काव्य क

विधायक धर्म हैं तथा ये काव्य के स्वतन्त्रा अंग है। इनके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है, इसके आश्रय से नहीं। गुण की परिभाषा सर्वप्रथम वामन ने की है। उनके अनुसार, काव्य शोभा के विधायक धर्म गुण हैं, आनन्दवर्धन ने गुणों को इस के साथ जोड़ दिया है और कहा–काव्य के प्रधान भूत रस के आश्रित तत्वों का नाम गुण है। उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन से पूर्व गुणों की अलंकारों से पृथक् सत्ता तो थी परन्तु इसके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम यह सम्बन्ध जोड़ा और कालान्तर में यही मान्य रहा।

गुण–भेद :

आचार्य भरत ने दोषों के विपर्यय रूप ऐसे तत्वों को, जो काव्य शैली को समृद्ध करते हैं, गुण माना है। इन गुणों की गणना उन्होंने इस प्रकार की है :

1. श्लेष – रचना के संघटन को श्लेष कहते हैं।
2. प्रसाद – पद रचना की सरलता, सहजता और स्पष्टता को प्रसाद कहते हैं।
3. समता – कठिन और व्यर्थ पदों का अधिक न होना ही समता है।
4. समाधि – का अर्थ एकाग्रता, मेल, शांति आदि है। काव्य में विभिन्न धर्म वाली बातों को सही ढंग से नियोजित करना ही समाधि है।
5. माधुर्य – जिस रचना से आनन्द का अनुभव हो।
6. ओज – मन में उत्साह उत्पन्न करने वाला गुण।
7. सौकुमार्य – कोमल वर्णों द्वारा सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति ही इस गुण की विशेषता है।
8. अर्थव्यक्ति – वह गुण जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है।

9. उदारता – इसका सम्बन्ध अर्थ गौरव से है। व्यापकता और उत्कर्ष की प्रतीति ही उदारता होती है।

10. कान्ति – रचना की नवीनता और स्वाभाविकता इस की विशेषता है।

किन्तु आचार्य मम्मट ने दस गुणों के स्थान पर केवल तीन ही गुण स्वीकार किये और उनके पश्चात् संस्कृत तथा हिन्दी के सभी आचार्यों ने इन्हीं तीन गुणों को मान्यता प्रदान की। ये तीन गुण – माधुर्य, ओज एवं प्रसाद।

1. माधुर्य : जिस रचना को पढ़ या सुनकर हृदय आनन्द से अभिभूत हो और जिसमें कोमल कान्त पदावली का प्रयोग हो, किसी बड़े समास ट वर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) आदि का अभाव हो। इस गुण का क्षेत्रा संयोग, श्रृंगार, करुणा, विप्रलम्भ और शान्त रस है। जैसे :–

कंकन किंकिन नूपुर धूनि सुनि।
कहत लखन राम राम हृदय गुनि।।

2. ओज : चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण का नाम ओज है और यह वीर, वीभत्स (घृणा नफरत–स्थायीभाव से युक्त) और रौद्र रसों में क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करता है इनमें विशेषतः वर्गों, संयुक्त, अक्षरों, समास बाहुल्य तथा ट वर्ग युक्त शब्दों की योजना होती है। यही गौड़ी रीति (पुरूषा वृत्ति) है।

3. प्रसाद : जिस काव्य रचना को पढ़ते या सुनते ही पाठक अथवा श्रोता के हृदय में अर्थ का प्रकाश हो जाये तथा जिसमें ऐसी सरल शब्द योजना हो जिसमें अर्थ तत्क्षण स्पष्ट हो जाये, वहां प्रसाद गुण होता है। पांचाली रीति अथवा कोमल वृत्ति इसी को कहते हैं।

रीति और दोष :

रीति का महत्वपूर्ण आधार दोष हैं। जब तक कोई रचना दोष शून्य नहीं होगी तब तक इसमें गुणों का समन्वय भी सौंदर्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। अतः साहित्यकारों के लिए दोषों का ज्ञान भी उतना ही अपेक्षित है, जितना गुणों का। वामन के अनुसार, दोषों की परिभाषाएं गुण के विपर्यय का नाम दोष है या यों कहिए कि जो गुण का उल्टा है वही दोष है। आचार्य भट्ट ने दस दोष माने हैं।

1. गूढ़ार्थ (क्लिष्ट अर्थ)
2. अर्थान्तर (अवर्ण्य का वर्ण्य)
3. अर्थहीन
4. भिन्नार्थ
5. एकार्थ

6. अभिलुप्तार्थ (विभिन्न अर्थों में संगति का अभाव)
7. न्यायादपत (तर्क रहित)
8. विषम (छंदोमंग)
9. विसंधि
10. शब्दहीन।

आगे चलकर मम्मट ने इनकी संख्या बढ़ा दी। उपर्युक्त दस दोषों को वामन ने चार भागों में विभाजित किया है – पददोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष और वाक्यार्थ दोष।

रीति और अलंकार :

गुण और दोष के विवेचन के बाद हम रीति के तीसरे महत्वपूर्ण अंग अलंकार को लेते हैं। वामन के मतानुसार, काव्य में सौंदर्य–दोषों के अभाव से एवं गुण–अलंकार के योग से उत्पन्न होता है। वामन अलंकारवादी तो थे नहीं किन्तु अलंकार के महत्व को अवश्य स्वीकार करते थे।

रीति और शैली :

काव्यशास्त्रा में रीति शब्द का प्रयोग विशिष्ट पद रचना के लिए ही रहा है, किन्तु शैली का अर्थ है विशेष काव्य रचना अथवा अभिव्यंजना पद्धति। शैली शब्द शील से बना है जिसका अभिप्राय ऐसे कार्य ढंग से है, जिससे कर्ता के स्वभाव, रूचि, शील, प्रकृति, चरित्रा, मनोवृति आदि का परिचय मिले।

1.4.2.4 रीति का महत्व/रीति सम्प्रदाय का महत्व :

रीति सम्प्रदाय के सम्बन्ध में इतना स्पष्ट है कि वामन ने एक नये सम्प्रदाय के प्रर्वतन का साहस किया। उनकी रीति काव्य की आत्मा भले ही न बन पाये किन्तु उसका काव्य से कोई न कोई सम्बन्ध तो है ही। कम से कम जो लोग शैली पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, उनके लिए वामन का मत चेतावनी देने के लिए पर्याप्त है। अतः डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है – वाणी के बिना अर्थ गूंगा है, शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जैसे विधता ने हृदय की मिठास देकर भी वाणी नहीं दी। इस दृष्टि से शैली तत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है और रीतिवाद में उस पर बल देकर काव्यशास्त्रा का निस्संदेह उपकार किया है।

1.4.3 वक्रोक्ति सिद्धान्त :

वक्रोक्ति का अर्थ है वह उक्ति जिसमें वक्रता का शाब्दिक अर्थ है टेढ़ापन या विचित्रा या वाक्छल या परिहास कथन। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रर्वतक आचार्य कुंतक के वक्रता का अर्थ प्रसिद्ध कथन से भिन्न अर्थात् असमान्य या विचित्रा में है। कुंतक ने ऐसे ही उक्ति को काव्य की आत्मा कहा है।

1.4.3.1 परंपरा अथवा विकास :

वक्रोक्ति का भाग्योदय दसवीं शती में कुंतक के द्वारा ही हुआ किन्तु इससे पूर्व भी उनका जन्म एवं विकास हो चुका था। वस्तुतः वक्रोक्ति का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना कि स्वयं अलंकार शास्त्रा का। कुंतक से पूर्व काव्य शास्त्रा में वक्रोक्ति की चर्चा अलंकार के रूप में की जाती थी।

भामह (6वीं शती) :

भामह ने अपने काव्यालंकार में वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे सब अलंकारों की जननी माना है। उनके विचारनुसार 1. शब्द और अर्थ की समन्वित वक्रता का नाम वक्रोक्ति है, यह शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का मूल है। इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ देते हुए 2. उसे अतिश्योक्ति का पर्याय माना है और उन दोनों (वक्रोक्ति तथा अतिश्योक्ति) का एक ही लक्षण स्वीकार किया।

दण्डी (7वीं शती) :

दण्डी ने सम्पूर्ण वाड़मय को दो भागों में विभक्त किया है – स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति। स्वाभावोक्ति में क्योंकि सीधी उक्ति होती है अतः उसका साम्राज्य शास्त्रा आदि से होता है। वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है और वह (वक्रोक्ति) सर्वालंकार का आधारभूत तत्व है। अतः दण्डी भी भामह की तरह वक्रोक्ति का पर्याय समझते हैं।

वामन (9वीं शती) :

वामन ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार के रूप में वर्णित किया है। वे इसे अर्थालंकार मानते हैं, शब्दालंकार नहीं। दूसरे, उनके अनुसार वक्रोक्ति का लक्षण सदृश्य को लेकर चलने वाली और गौणी लक्षणा। इस प्रकार वामन का यह मत पूर्ववर्ती और परवर्ती पूरी परंपरा में सबसे भिन्न तथा असमान्य रहा।

रूद्रट (9वीं शती) :

रूद्रट वक्रोक्ति के अधिक विरोधी निकले। उन्होंने वामन से भी आगे बढ़कर वक्रोक्ति को अर्थालंकार के बदले शब्दालंकार स्वीकार किया और उनका अर्थ वाणी का चातुर्य किया। साथ ही उन्होंने वक्रोक्ति के दो भेद–काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति माने।

आनन्दवर्धन (9वीं शती) :

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति के महत्व को लेकर कहा कि काव्य में सब कुछ वक्रोक्ति ही है क्योंकि इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है।

भोज (10वीं शती) :

भोज ने सम्पूर्ण वाडमय को तीन भागों में बांटा – वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। इन तीनों में रसोक्ति को ही विशेष महत्व दिया था का क्षेत्रा संकुचित कर दिया।

कुन्तक (10वीं शती) :

कुन्तक से पूर्व काव्यशास्त्रा के अतिरिक्त व्यवहार में ही वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है। कुन्तक ने वक्रता को काव्य का मूल तत्व मानते हुए वक्रोक्ति को काव्य के जीवन रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार, काव्य रूप का काव्यत्व वक्रता पर आश्रित है। काव्य के सभी रूपों में वक्रोक्ति की अनिवार्य स्थिति है और काव्य के अन्य सभी अंग–अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि उसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं।

1.4.3.2 वक्रोक्ति के भेद :

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छह भेद किए हैं। 1) वर्ण–विन्यास वक्रता 2) पद–पूर्वाद्ध व क्र त ा
3) पद–परार्ध वक्रता 4) वाक्य वक्रता 5) प्रकरण वक्रता 6) प्रबन्ध वक्रता।

1) वर्ण–विन्यास वक्रता :

कुन्तक के अनुसार जिसमें वर्ण एक, दो या थोड़े–थोड़े अन्तर से बार–बार (उसी रूप में) ग्रथित हों, यह वर्ण–विन्यास की वक्रता कहलाती है।

2) पद–पूर्वाद्ध वक्रता :

वर्णों के समुच्चय का नाम पद है। पद वर्ण के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव है। शब्द के आंरभ में उत्पन्न वक्रता का मूल तत्व अथवा धातु से सम्बन्धित वक्रता को पूर्वाद्ध वक्रता कहेंगे। इसके आठ भेद हैं :

1) रूढ़ि वैचित्राय वक्रता
2) पर्याय वक्रता
3) उपचार वक्रता
4) विशेषण वक्रता
5) संवृति वक्रता
6) वृति वक्रता
7) लिंग वैचित्रय वक्रता
8) क्रिया वैचित्रय वक्रता

3) पद–परार्द्ध वक्रता :

पद के उतरार्द्ध में प्रकट विचित्राताओं का संकेत होता है। प्रत्यय और विभक्ति पद के पराद्ध भाग हैं। इनमें वचन, कारक, काल, पुरूष इत्यादि का प्रयत्न होता हैं इसके

मुख्य छह भेद हैं।

1) काल वैचित्रय वक्रता

2) वचन वक्रता

3) पुरूष वक्रता

4) प्रत्यय वक्रता

5) वाक्य वक्रता

6) प्रकरण वक्रता

1.4.3.3 अन्य सिद्धान्तों के संदर्भ में वक्रोक्ति सिद्धान्त का महत्त्व

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अध्ययन के बाद कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त अधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सका। फिर भी इसका महत्व कम नहीं है। वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्व प्रचलित मतों का समन्वय किसी न किसी रूप में हो जाता है। कुन्तक के वर्ण विन्यास में रीति के गुणों का, पदपूर्वाद्ध वक्रता में शब्दंकारों का वाक्य वक्रता में अर्थोलंकारों का, प्रकरण वक्रता में ध्वनि का और प्रबन्ध वक्रता में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। वस्तुतः वर्ग योजना से लेकर प्रबन्ध योजना तक समस्त कवि कौशला एवं काव्य सौंदर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो जाता है।

इस प्रकार कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त वामन के रीति सिद्धान्त और भामह, दण्डी के अलंकार सिद्धान्त के समान काव्य के कला पक्ष का ही अधिकांश रूप में विवेचक तथा मर्म निर्देशक है, और इस दृष्टि से इसका निजी महत्व है। यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा (आत्मरिम साधन) के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

1.4.3.5 स्वयं जांच अभ्यास

1. वक्रोक्ति सिद्धांत पर संक्षिप्त चर्चा करें।

.....

.....

.....

1.4.4 सारांश :

रीति को स्वतन्त्रा सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को है। गुणों को वामन ने काव्य (शब्द और अर्थ) का शोभा धारक धर्म माना। रीति के विकास में भरत, वाणभट्ट, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रूद्रट, कुन्तक, विश्वनाथ इत्यादि विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध सौंदर्यवादी था।

अतः उन्होंने उन सब गुणों, जिनसे काव्य–सौंदर्य की सृष्टि हो सकती है को रीति के आधारभूत तत्वों में संकलित किया है, रीति के आधारभूत तत्व गुण, दोष और अलंकार ही हैं। आचार्य मम्मट ने मधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को ही मान्यता प्रदान की है। वामन से पहले भी कुछ विद्वानों ने रीति सम्बन्धी अपने विचारों को प्रस्तुत किया है किन्तु रीति को काव्य की आत्माघोषित करने का साहस अवश्य ही अपने आप में अद्‌भुत है।

वक्रोक्ति का अर्थ है – वह उक्ति, जिसमें वक्रता हो अर्थात् टेढ़ापन हो। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का श्रेय कुंतक को ही जाता है, बेशक इनसे पहले भी इसका उद्‌भव और विकास हो चुका था। इसका मूल गुण है – अर्थ की विचित्राता। अर्थ को विचित्रा रूप प्रदान करना ही इसका प्रयोजन है। इसके बिना अलंकार चमत्कार शून्य हो जाता है। वक्रोक्ति सिद्धान्त अपना एक विशेष महत्व है।

1.4.5 शब्दावली :

परस्पर – आपस में

निष्पन्न – बनना, अस्तित्व में आना

एकत्रा – इकट्ठे, एक साथ

पृथक् – अलग

तत्क्षण – उसी समय

अपेक्षित– आवश्यक

सक्षम – निपुण

1.4.6 प्रश्नावली :

1) 'रीति' शब्द की अर्थ और परिभाषा दें।

2) रीति के ऐतिहासिक विकास में किन–किन विद्वानों का प्रमुख योगदान रहा? संक्षिप्त टिप्पणी करकें।

3) रीति सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय किसे जाता है? प्रकाश डालें।

4) रीति सम्प्रदाय के महत्त्व पर संक्षिप्त टिप्पणी करें।

5) वक्रोक्ति का अर्थ और परिभाषा लिखें।

6) वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक किसे माना जाता है? टिप्पणी करें।

7) वक्रोक्ति के कितने भेद स्वीकार किए जाते हैं? लिखें।

8) अन्य सिद्धान्तों के संदर्भ में वक्रोक्ति सिद्धान्त का महत्व प्रतिपादित करें।

1.4.7 पुस्तक सूची :

1) भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रा – रामचन्द्र तिवारी
2) भारतीय काव्यशास्त्रा – निशा अग्रवाल
3) भारतीय काव्यशास्त्रा की परंपरा – नगेन्द्र
4) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – गणपति चन्द्रगुप्त

Mandatory Student Feedback Form

https://forms.gle/KS5CLhvpwrpgjwN98

Note: Students, kindly click this google form link, and fill this feedback form once.